जिसकी प्रेम और चिन्तायुक्त शुश्रूषा बिना
यह पुस्तक लिखना और पूरी करना कठिन
होजाता, उस प्रिय सहधर्मचारिणी
सौभाग्यवती गोमती को—

सम्मति

इस 'विचार-दोहन' को मैंने पढ़ लिया है। भाई किशोरलाल को मेरे विचारों का परिचय असाधारण है। जैसा परिचय है वैसे ही उनकी ग्रहणशक्ति भी है। इसलिए मुझे इसमें बहुत थोड़ी जगह ही फेर-फार करना पड़ा है। हम दोनों में बहुतेरे विषयों में विचारों का ऐक्य होने से, हालांकि इसमें भाषा भाई किशोरलाल की है, फिर भी प्रत्येक प्रकरण के लिए अपनी सम्मति देने में मुझे कठिनाई नहीं हुई। बहुत-से विषयों का समावेश थोड़े में भाई किशोरलाल कर सके हैं, यह इस दोहन की विशेषता है।

मोहनदास करमचन्द गांधी

दूसरे संस्करण का निवेदन

इस छोटी-सी पुस्तक की उत्पत्ति का कारण है विलेपार्ले का गांधी-विद्यालय। इस विद्यालय में, देहात में जाकर लोक-सेवा करने की इच्छा रखनेवाले नवयुवकों की शिक्षा के लिए एक वर्ग रक्खा गया था, जिसमें ज्यादातर महाराष्ट्रीय विद्यार्थी थे। गांधीजी के विचार और लेख गुजरात को जितने परिचित हैं उतने महाराष्ट्र को नहीं हैं। इसलिए इस विद्यालय के पाठ्यक्रम में 'गांधीजी के सिद्धान्त और विचारों का परिचय' भी एक विषय था। यह विषय मुझे सौंपा गया था, और उसके सिलसिले में जो तैयारी करनी पड़ी थी उसीमें से इस पुस्तक का जन्म हुआ।

इसके बाद, इस पुस्तक की योजना के विषय में काकासाहब से चर्चा की और यह उनको पसन्द आई। इस चर्चा में यह भी तय हुआ कि जैसे ही इसके अध्याय एक-एक करके लिखे जायँ वैसे ही वे क्रमशः गांधीजी के पास भेज दिये जायँ तथा वह उनको जाँचकर और सुधारकर प्रमाणपत्र दें, ताकि गांधीजी की समूची विचार-प्रणाली उपस्थित करने-वाली एक पुस्तक तैयार हो जाय।

गांधीजी ने यह स्वीकार भी किया; परन्तु देश में और विलायत में काम के बोझ के कारण यह पूरी पुस्तक देखने के लिए समय नहीं मिल पाया। इसके उपरान्त ता० ४-जनवरी १९३२ को वह पकड़े गये। अतः पहला संस्करण उनके संशोधनों बग़ैर ही छपवाना पड़ा था। परन्तु अब तो इस सारी-की-सारी पुस्तक को गांधीजी ने ध्यान से पढ़कर उसमें संशोधन किया है; यह प्रकट करते हुए संतोष और आनन्द होता है। उनके किये हुए सारे सुधार पुस्तक में समाविष्ट कर लिये गये हैं।

परन्तु उसके उपरान्त स्वयं मैंने तथा मेरे साथियों ने पुस्तक को फिर से गौर से पढ़ा है। भाषा और रचना में कतिपय सुधारकर के कुछ नये अध्याय लिखे हैं, अथवा कुछेक पुराने फिर नये सिरे से लिखे हैं, और उनके जोडे जाने के बाद भी गांधीजी ने इसे दुबारा जांचा है। इस पुस्तक में गांधीजी के लेखों के अवतरण थोडे ही हैं। यह उनकी भाषा या शब्दों का दोहन नहीं कहा जासकता। कहीं-कहीं पाठक के चित्त में यह भी खयाल आसकता है कि "ऐसा तो गांधीजी के लेखों में कहीं देखने में नहीं आया।" अर्थात्, यथार्थ में, जिस प्रकार मैंने गांधीजी के हृदय एवं विचारों को समझा है उन्हें मैंने अपने ढंग से और अपनी भाषा में प्रस्तुत किया है। अतः यद्यपि गांधीजी ने इसे पढ़ लिया है तथापि इसकी प्रमाणभूतता उनके खुद के लेखों जैसी नहीं मानी जा सकती।

गांधीजी द्वारा प्रेरित इस युग में अनेकानेक छोटी-बडी संस्थायें अस्तित्व में आई हैं, और उनमें अनेक कार्यकर्ता नानाप्रकार की रचनात्मक प्रवृत्तियों में लगे हैं। फिर, आत्मशुद्धि तथा स्वराज्य-प्राप्ति के लिए लालायित जनता का भी बहुत बड़ा समुदाय गांधीजी के विचारों को झेलनें का प्रयत्न कर रहा है। उन सबके लिए उपयोगी या पथ-प्रदर्शक होने के योग्य सोलह आने प्रमाणभूत न होते हुए भी अब ऐसा कहने में हर्ज नहीं है कि यह पुस्तक आज की समस्याओं तथा सिद्धान्तों के विषय में गांधीजी की विचार-प्रणाली यथार्थरूप में प्रस्तुत करनेवाली है।

श्री गोकुलभाई भट्ट अगर गांधी विद्यालय खोलने का हठ न करते और अगर काकासाहब ने उस हठ का अनुमोदन न किया होता तो संभव है कि इस पुस्तक की कल्पना ही नहीं आती। अतः उन दोनों का और स्वामी आनन्द का—कि जिन्होंने इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के समय मुझे अमित प्रोत्साहन दिया था उनका—मैं आभार मानता हूँ।

जो गांधीजी के लेखों में स्पष्टरूप से नहीं पाया जाता, ऐसा बहुत-कुछ इस पुस्तक में है, ऐसा कुछ लोगों को प्रतीत होगा। कहीं-कहीं कुछ लोगों को यह भी शंका आयगी कि क्या यह गांधीजी की किसी अन्तरंग मण्डली की चर्चा में से लिया गया है? मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि ऐसा कुछ भी नहीं है। मैं यह मानता हूँ कि किसी भी सत्पुरुष के विचार केवल उसकी पुस्तकों के अध्ययन से पूर्णरूप से नहीं जाने जा सकते; उसका सत्संग आवश्यक है। परन्तु सत्संग के बाद भी उसका हृदय समझने का तथा उसकी समूची विचार-प्रणाली की तह में पैठने का प्रयास करना चाहिए। यह मूलतत्व हाथ लगे तो उसकी सारी विचार-सृष्टि, जिस प्रकार भूमिति में एक सिद्धान्त में से दूसरा निकलता है, ठीक उसी तरह देख पड़ेगी। गांधीजी को समझने का मेरा प्रयत्न इस प्रकार का है। यह कहाँतक सफल हुआ है यह तो गांधीजी तथा मेरी तरह उनके निकट सहवास में रहनेवाले मेरे दूसरे भाई-बहन ही कह सकेंगे।

यह पुस्तक लिखने के प्रयत्न के कारण मैं स्वयं ही गांधीजी के विशेष स्पष्टरूप से दर्शन कर सका हूँ, अर्थात् मुझे यह प्रयत्न बहुत लाभकारी हुआ है; अतः आशा है कि पाठकों को भी यह पुस्तक लाभकारी अवश्य होगी।

अन्त में, जिनके विचारों का दोहन करने का यह प्रयत्न किया है, और जिनके प्रेम और समागम से सदा के लिए अनुगृहीत हो गया हूँ, उन पूज्य बापू के श्रीचरणों को विनयपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

किशोरलाल घ० मशरूवाला

विषय-सूची

१. धर्म— ३–२७
परमेश्वर; सत्य; अहिंसा; ब्रह्मचर्य; अस्वाद; अस्तेय; अपरिग्रह; शरीर-श्रम; स्वदेशी; अभय; नम्रता; व्रत प्रतिज्ञा; उपासना-प्रार्थना; व्रतों की साधना।

२. धर्म-मार्ग— २८–३४
सर्वधर्म समभाव; धर्म और अधर्म; सत्याग्रह; हिन्दू-धर्म; गीता-रामायण।

३. समाज— ३५–५४
वर्णाश्रम; वर्ण-धर्म; आश्रम; स्त्री-जाति; अस्पृश्यता; खाद्याखाद्य-विवेक; विवाह; सन्तति-नियमन; दम्पती में ब्रह्मचर्य; विधवा-विवाह; वर्णान्तर-विवाह।

४. सत्याग्रह— ५५–८५
कर्त्तव्यरूप सत्याग्रह; सत्याग्रही की मर्यादा; सत्याग्रह का बुनियादी-सिद्धान्त; सत्याग्रह के सामान्य लक्षण; सत्याग्रह के प्रसंग; सत्याग्रह के प्रकार; समझाना-बुझाना; उपवास; असहयोग; सविनय-भंग; सत्याग्रही का अदालत में व्यवहार; सत्याग्रही का जेल में व्यवहार; सत्याग्रही की नियमावलि; सत्याग्रही की शर्तें।

५. स्वराज्य— ८६–१००
रामराज्य; तन्त्र-सुधार और विधान-सुधार; राष्ट्रीय-एकता; अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध; देशीराज्य; देश की रक्षा।

६. वाणिज्य— १०१–१२३
पश्चिमी अर्थशास्त्र; भारतीय अर्थशास्त्र; ग्रामवृष्टि; धनेच्छा; व्यापार; व्याज-बट्टा; मजदूरों के प्रश्न; स्वाश्रय और श्रम विभाग; राजनीतिक स्वदेशी; यान्त्रिक साधन; अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार।

७. उद्योग— १२४-१३८
खेती; सहयोगी उद्योग; 'सौ टका स्वदेशी'; विशेष उद्योग; हानि-कारक उद्योग; उपयोगी धन्धे; ललित कलायें।

८. गो-पालन— १३६-१४६
धार्मिक दृष्टि; अन्य प्राणियों का पालन; प्राणियों के प्रति क्रूरता; गो-वध; मरे ढोर।

९. खादी— १४७-१६३
चरखे के गुण; चरखे के सम्बन्ध में ग़लत धारणायें; खादी और मिल का कपड़ा; चरखा और हाथ-करघा; खादी-उत्पत्ति की क्रियायें; घर-बनी और बिक्री की खादी; यथार्थ कताई; खादी-कार्य; पूरा मेहनताना।

१०. स्वच्छता और आरोग्य— १६४-१८६
शारीरिक स्वच्छता; सुघड़ और स्वच्छ आदतें; बाह्य स्वच्छता; शौच; जलाशय; बीमारियाँ; इलाज; आहार; व्यायाम।

११. शिक्षा— १८७-२१२
शिक्षा का ध्येय; अराष्ट्रीय शिक्षा; राष्ट्रीय शिक्षा; औद्योगिक-शिक्षा; बाल-शिक्षा; ग्राम-शिक्षा; स्त्री-शिक्षा; धार्मिक शिक्षा; शिक्षा का माध्यम; अंग्रेजी भाषा; भाषा-ज्ञान; राष्ट्र भाषा; इतिहास; शिक्षा के अन्य विषय; शिक्षक; विद्यार्थी; छात्रालय; शिक्षा का खर्च; उपसंहार।

१२. साहित्य और कला— २१३-२२०
साधारण टीका; साहित्य की शैली; अनुवाद; अखबार; कला।

१३. लोक-सेवक— २२१-२३०
लोक सेवक के सामान्य लक्षण; ग्राम-सेवक के कर्त्तव्य।

१४. संस्थायें— २३१-२३७
संस्था की सफलता; संस्था का संचालक; संस्था के सभ्य; संस्था का आर्थिक व्यवहार।

गांधी-विचार-दोहन

खण्ड १ :: धर्म

: १ :

परमेश्वर

१. परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही जीवन का एक योग्य ध्येय है। जीवन के दूसरे तमाम कार्य इस ध्येय को सिद्ध करने के लिए ही होने चाहिएँ।

२. जो मानव-कर्म-प्रवृत्तियाँ इस ध्येय की विरोधी मालूम हों उन्हें त्याज्य समझना चाहिए, फिर भले ही स्थूल दृष्टि से उनका फल कितना ही ललचानेवाला और लाभकारी क्यों न प्रतीत हो।

३. जो प्रवृत्तियाँ इस ध्येय की साधक मालूम हों उन्हें अवश्य करना चाहिए, फिर भले ही वे कठिन और स्थूल दृष्टि से हानिकर प्रतीत हों अथवा उनमें कैसी ही जोखिम रही हो।

४. इस परमेश्वर का स्वरूप मन और वाणी से परे है। उसके सम्बन्ध में हम इतना ही कह सकते हैं कि परमेश्वर अनन्त, अनादि, सदा एकरूप रहनेवाला, विश्व का आत्मारूप अथवा

आधार-रूप और उसका कारण है। वह चेतना अथवा ज्ञान-स्वरूप है। उसीका एक सनातन अस्तित्व है। शेष सब नाशमान है। उसको समझने के लिए एक छोटे-से शब्द में उसे हम 'सत्य' कहते हैं।

५. इस तरह परमेश्वर ही सत्य है और सत्य का अर्थ है परमेश्वर।

६. यह ज्ञान सत्यरूपी परमेश्वर की निर्गुण भावना है।

७. आज जो कुछ मुझे इस प्रकार धर्म्य, न्याय्य और योग्य प्रतीत होता है उसके करने, स्वीकारने या प्रकाशित करने में मुझे लज्जित होने की जरूरत नहीं है। जो मुझे करना ही चाहिए, और जिसे न करूँ तो मेरे लिए उजले मुँह जीना असम्भव है, वह मेरे लिए सत्य है। वही मेरे लिए परमेश्वर का सगुण स्वरूप है।

८. सत्य की अविरत खोज करना और जैसा एवं जितना सत्य समझ में आया हो उसको सतत यत्नपूर्वक व्यवहार में उतारना, इसीका नाम है सत्याग्रह, और यही परमेश्वर के साक्षात्कार का साधनमार्ग है।

९. सत्य अनन्त और विश्व अपार होने के कारण इस खोज का कभी अन्त आनेवाला नहीं है। इसपर से यह अनुमान होना सम्भव है कि परमेश्वर का सम्पूर्ण साक्षात्कार कभी हो ही नहीं सकता। इस आशङ्का से साधक को असमञ्जस में न पड़ना चाहिए, और न उस अपार तत्त्व को प्राप्त करने के लिए बिना लक्ष्य के मन्थन ही करना चाहिए। बल्कि उसको अपने जीवन में जो छोटी या बड़ी, महत्त्वपूर्ण या मामूली, प्रवृत्तियाँ अथवा क्रियायें

करना कर्तव्यरूप हों, उन्हींमें उसको सत्य का शोधन करना चाहिए। तब "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" इस न्याय के अनुसार उसे सत्य प्राप्त हो जायगा।

१०. अपने आसपास प्रवर्त्तित असत्य, अन्याय या अधर्म के प्रति उदासीन रहनेवाला व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता। इसलिए सत्यान्वेषी साधक को चाहिए कि वह उस असत्य, अन्याय और अधर्म के उच्छेद के लिए तीव्र पुरुषार्थ करे और जब तक सत्यादि साधनों के द्वारा उनका उच्छेद करने में सफल न हो, तब तक अपनी सत्य की साधना अपूर्ण ही समझे। अतः असत्य, अन्याय और अधर्म का प्रतिकार यह भी सत्याग्रह का आवश्यक भाग है।

११. सब धर्म कहते हैं, इतिहास भी गवाही देता है और अनुभव से भी मालूम होता है कि असत्य, हिंसा आदि से युक्त साधनोंके द्वारा सत्य की खोज करना असंभव है। इसी तरह संयम, व्रत, उपासना आदि साधन द्वारा चित्त को शुद्ध करने के प्रयत्न किये बिना भी इसका ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए आगे बतलाये जानेवाले व्रतादि साक्षात्कार के अनिवार्य साधन माने हैं।

: २ :

सत्य

१. सत्य यानी परमेश्वर। यह सत्य का पर अथवा ऊँचा अर्थ हुआ। अपर अथवा साधारण अर्थ में सत्य के मानी हैं सत्य आग्रह, सत्य विचार, सत्य वाणी और सत्य कर्म।

२. जो सत्य है वही, दूर का हिसाब लगाने से, हितकर अथवा भला है। इसलिए सत्य अथवा सत का अर्थ भला भी होता है, और जो सत्य आग्रह, सत्य विचार, सत्य वाणी और सत्य कर्म है, वही सदाग्रह, सद्विचार, सद्वाणी और सत्कर्म भी है।

३. जिन सत्य और सनातन नियमों के बल विश्व का जड़चेतन तन्त्र चलता है उसका अश्रान्त अन्वेषण करते रहना और तद्-नुसार अपना जीवन बनाते रहना, तथा असत्य का सत्यादि साधन द्वारा प्रतिकार करना, यह सत्य आग्रह है।

४. जो विचार हमारी राग-द्वेष-हीन, निष्पक्ष तथा श्रद्धा और भक्तियुक्त बुद्धि को सदा के लिए अथवा, जिन परिस्थितियों तक हमारी दृष्टि पहुँच सकती है उनमें, अधिक-से-अधिक समय तक के लिए उचित और न्याय्य प्रतीत हो, वही हमारे लिए सत्य विचार है।

५. जो वाणी, कर्तव्यरूप हो जाने पर, हमारे ज्ञान और जान-कारी को सही-सही प्रकट करती है और उसमें ऐसी कमी-बेशी करने का यत्न नहीं करती है कि जिससे अन्यथा अभिप्राय भासित हो, वह सत्य वाणी है।

६. विचार में जो सत्य प्रतीत हो उसीके विवेकपूर्वक आचरण का नाम सत्य कर्म है।

७. या यों कहिए कि पर सत्य को, जिसे हमने परमेश्वर कहा है, जानने के लिए यह अपर सत्य साधन है; अथवा यह कहिए कि सत्य आग्रह, सत्य विचार, सत्य वाणी और सत्य कर्म की—यानी अपर सत्य के पालन की—पूर्ण सिद्धि का ही नाम परमेश्वर का साक्षात्कार है। साधक के लिए दोनों में कोई भेद नहीं है।

: ३ :

अहिंसा

१. साधारणतया लोग सत्य शब्द को 'सच बोलना' इतने स्थूल अर्थ में ही समझते हैं। परन्तु केवल सत्यवाणी में सत्य-पालन का पूरा समावेश नहीं होता। इसी तरह लोग आमतौर पर अहिंसा शब्द को "दूसरे जीव को न मारना" इतने ही स्थूल अर्थ में समझते हैं। परन्तु केवल प्राण न लेने से ही अहिंसा की साधना पूरी नहीं हो जाती है।

२. अहिंसा केवल आचरण का स्थूल नियम नहीं है,बल्कि वह मन की एक वृत्ति है। जिस वृत्ति में कहीं भी द्वेष की गंध तक न हो उसे अहिंसा समझना चाहिए।

३. ऐसी अहिंसा उतनी ही व्यापक है जितना कि सत्य। ऐसी अहिंसा सिद्ध हुए बिना सत्य की सिद्धि होना असम्भव है। इस-लिए सत्य, यदि दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो, अहिंसा की परा-काष्ठा ही है। पूर्ण सत्य और पूर्ण अहिंसा में भेद नहीं है। फिर भी, समझने की सुविधा के लिए,सत्य को साध्य और अहिंसा को साधन माना है।

४. ये—सत्य और अहिंसा—सिक्के की तरह—एक ही सना-तन वस्तु की दो बाजुओं के समान हैं।

५. अनेक धर्मों में जो यह कहा गया है कि 'ईश्वर प्रेमस्वरूप है', उस प्रेम और अहिंसा में कोई भेद नहीं है।

६. प्रेम के शुद्ध और व्यापक रूप का ही नाम अहिंसा है। जिस प्रेम में राग और द्वेष की बू आती हो, वह अहिंसा नहीं है। जहाँ राग और मोह होगा वहाँ द्वेष का बीज भी अवश्य होगा। प्रेम में कई बार राग-द्वेष पाये जाते हैं। इसीलिए तत्त्वज्ञों ने प्रेम शब्द का प्रयोग न करके अहिंसा शब्द की योजना की है, और कहा है कि अहिंसा परम धर्म है।

७. अहिंसा-धर्म का अर्थ इतना ही नहीं कि दूसरे के शरीर या मन को दुःख या चोट न पहुँचाना। हाँ, आमतौर पर इसे अहिंसा-धर्म का स्थूल या बाहरी लक्षण कहा जा सकता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर यद्यपि ऐसा जान पड़ता हो कि किसीके मन या शरीर को दुःख या हानि पहुँच रही है, तथापि सम्भव है कि वास्तव में वह शुद्ध अहिंसा-धर्म का पालन हो। इसके विपरीत ऐसा भी हो सकता है कि इस प्रकार दुःख या हानि पहुँचाने का आक्षेप किये जाने योग्य कुछ भी न किया गया हो तो भी उस व्यक्ति ने हिंसा की हो। अतएव अहिंसा का भाव केवल दृश्य परिणामों में ही नहीं है, बल्कि अन्तःकरण की राग-द्वेष-हीन अवस्था में है।

८. फिर भी दृश्य परिणामों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। कारण, ये स्थूल लक्षण होते हुए भी अपने या दूसरे के हृदय में अहिंसावृत्ति कहाँ तक विकसित हुई है इसका उन लक्षणों से साधारण नाप मिल जाता है। नित्य जीवन में तो दूसरे प्राणियों को दुःख न हो इस चिन्ता से बोले हुए वचन या किये हुए कर्मों पर से ही किसी व्यक्ति में अहिंसा कहाँ तक जमने पाई है इसकी

प्रत्यक्षता हो सकती है। अहिंसामय दुःख देने के अवसर कभी आते हैं सही, परन्तु उस समय उनमें ओतप्रोत रही हुई अहिंसा स्पष्टरूप से दिखाई देती है। जहाँ स्वार्थ की लेशमात्र भी गन्ध है वहाँ पूर्ण अहिंसा असम्भव है।

९. परन्तु इतना भी हो जाय तो भी यह नहीं कह सकते कि उस व्यक्ति की अहिंसा की साधना पूरी हो गई। अहिंसा का साधक केवल इतने से ही सन्तोष नहीं मान सकता कि वह ऐसी वाणी न बोले और ऐसा कर्म न करे जिससे किसी जीव को उद्वेग प्राप्त हो, अथवा मन में भी उनके प्रति किसी प्रकार का द्वेष-भाव न रहने दे; बल्कि वह जगत् में फैले हुए दुःखों का भी दर्शन और उन्हें दूर करने के उपायों की खोज करता रहेगा। अर्थात्, अहिंसा यह केवल एक निवृत्तिरूप कर्म या निष्क्रिया नहीं, बल्कि जबरदस्त प्रवृत्ति या प्रक्रिया है।

१०. अहिंसा में तीव्र कार्यसाधक शक्ति भरी हुई है। इस अमोघ शक्ति की अबतक पूरी-पूरी खोज नहीं हुई है। 'अहिंसा के समीप सारे वैर-भाव शान्त हो जाते हैं' यह सूत्र शास्त्रों का व्यर्थ प्रलाप नहीं है, बल्कि ऋषियों का अनुभव-वाक्य है। इस शक्ति का सम्पूर्ण विकास और सब अवसरों और कार्यों में इसके प्रयोग का मार्ग अबतक स्पष्ट नहीं हुआ है। हिंसा के मार्गों के संशोधनार्थ मनुष्य ने जितना सुदीर्घ उद्योग किया है और उसके फलस्वरूप हिंसा को बहुत बड़े प्रमाण में एक विज्ञानशास्त्र-सा बना दिया है, उतना उद्योग यदि अहिंसा-शक्ति के संशोधन में किया जावे, तो मनुष्यजाति के दुःखों के निवारणार्थ यह एक अन-

मोल, अव्यर्थ तथा अन्त में उभय पक्षों का कल्याण करनेवाला साधन सिद्ध होगा।

११. जिस श्रद्धा और अध्यवसाय से वैज्ञानिक प्रकृति के बलों की खोज-बीन करते हैं और उसके नियमों को विविध प्रकार से व्यवहार में लाने का प्रयत्न करते हैं, उतनी ही श्रद्धा और अध्यवसाय से अहिंसा की युक्ति का अन्वेषण तथा उसके नियमों को व्यवहार में लाने का प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

: ४ :

ब्रह्मचर्य

१. जिस प्रकार अहिंसा के बिना सत्य की सिद्धि सम्भवनीय नहीं है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के बिना सत्य और अहिंसा दोनों की सिद्धि असम्भव है।

२. ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म अथवा परमेश्वर की ओर जाना, अर्थात् अपने मन और इन्द्रियों को परमेश्वर-प्राप्ति के मार्ग पर लगाये रखना।

३. रागादिक विकारों के बिना अब्रह्मचर्य अर्थात इन्द्रियपरायणता कभी नहीं हो सकती, और विकारयुक्त मनुष्य सत्य और अहिंसा का पूर्ण पालन कर नहीं सकता; अर्थात, वह आध्यात्मिक पूर्णता कभी प्राप्त नहीं कर सकता।

४. इसलिए ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल वीर्यरक्षा अथवा कामजय ही नहीं है, बल्कि इसमें सभी इन्द्रियों का संयम आवश्यक है।

५. परन्तु जिस प्रकार सत्य का स्थूल अर्थ सत्यवाणी और अहिंसाका स्थूल अर्थ प्राण न लेना इतना ही किया जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के मानी भी 'काम-जय' सिर्फ इतना ही किया जाता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य को काम-जय ही सबसे कठिन इन्द्रिय-जय मालूम होता है।

६. सच पूछा जाय तो जीवन के सुखपूर्वक निर्वाह के लिए दूसरी इन्द्रियों का कुछ-न-कुछ भोग आवश्यक होता है। परन्तु ब्रह्मचर्य से जीवन-निर्वाह असम्भव नहीं होता, उलटा अधिक अच्छा और तेजस्वी होता है।

७. आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी को जीवन की पूर्णता तथा परमानन्द प्राप्त करने की जितनी आशा और अनुकूलता होती है उतनी अब्रह्मचारी को नहीं होती। ऐसे स्त्री-पुरुषों की जीवनी विवाहित और अविवाहित दोनों के लिए दीपस्तम्भ के समान है।

८. किन्तु दूसरे प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य को आहार-विहार में अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है, इसलिए वह समस्त इन्द्रियों का अपेक्षाकृत अधिक भोग करता है। इस कारण वर्ष में केवल कुछ दिनों के लिए ही उसको कामवेग का अनुभव नहीं होता, बल्कि वह उसको निरंतर पोषित करता रहता है। इससे कामविकार उसके लिए एक निरन्तर का रोग होगया है, और उससे जीतना उसके लिए बहुत कठिन होगया है।

९. परन्तु विचारशील मनुष्य देख सकता है कि दूसरी इन्द्रियों का पोषण किये बिना काम को बहुत पोषण नहीं मिल सकता

और दूसरी इन्द्रियों को जीते बिना काम-जाय की आशा रखना फिज़ूल है।

१०. इस प्रकार विचार कर प्रयत्नशील रहनेवाले स्त्री-पुरुषों के लिए ब्रह्मचर्य का पालन उतना कठिन नहीं है जितना कि अक्सर समझा जाता है।

: ५ :

अस्वाद

इस प्रकार एक व्रत में से दूसरा व्रत निकलता है।

१. एक इन्द्रिय भी यदि स्वच्छंद बन जाय तो दूसरी इन्द्रियों का नियंत्रण भी ढीला पड़ जाता है। फिर भी, ब्रह्मचर्य की दृष्टि से, जीतने में सबसे कठिन और महत्वपूर्ण इन्द्रिय है जिह्वा अर्थात् स्वादेन्द्रिय। इस बात पर स्पष्टरूप से ध्यान रहे इसलिए स्वादजय को व्रत में खास स्थान दिया गया है।

२. शरीर में से जो तत्त्व घिसते चले जाते हैं उनकी पूर्ति करके शरीर को कार्यक्षम स्थिति में रखने के लिए, आहार की ज़रूरत है। इसलिए, इसी दृष्टि से, जितने और जिस प्रकार के आहार की जरूरत है उतना ही लेना चाहिए। स्वाद के लिए अर्थात् जीभ को रुचिकर मालूम हो इसलिए कुछ खाना या किसी वस्तु को खुराक में शामिल करना, अथवा अधिक आहार करना, यह अस्वाद-व्रत का भंग है।

३. अस्वादवृत्ति से चलाये संयुक्त भोजनालय में जाकर जो भोजन वहाँ बना हो उसमें से जो चीजें हमारे लिए त्याज्य न हों

उन्हें ईश्वर का अनुग्रह मान कर, मन में भी उसकी टीका न करते हुए, जितना हमारे शरीर के लिए आवश्यक हो उतनी मात्रा में सन्तोषपूर्वक खा लेना, यह नियम अस्वादव्रत में बहुत सहायक है।

: ६ :

अस्तेय

१. अस्तेय का अर्थ सिर्फ़ इतना ही नहीं है कि जिस वस्तु पर हमारा स्वामित्व नहीं है उसे न लें। परन्तु उस वस्तु का भी उपयोग करना, जो मानी तो हमारी ही जाती हो परन्तु जिसकी हमें आवश्यकता न हो, चोरी ही है। दूसरों के विचार अथवा शोध—आविष्कार—को लेकर अपनी वस्तु के रूप में पेश करना विचार-सम्बन्धी चोरी है।

२. यदि हम मानें कि जगत की समस्त वस्तुओं पर परमेश्वर का स्वामित्व है, और प्राणिमात्र उसके नियंत्रण में रहा हुआ एक विशाल कुटुम्ब है, तो फिर स्पष्ट है कि हमें सिर्फ़ उतनी ही वस्तुओं के उपभोग का अधिकार रहता है जो हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक हों। उससे अधिक अपना अधिकार समझना चोरी है।

: ७ :

अपरिग्रह

१. अस्तेय और अपरिग्रह में बहुत थोड़ा भेद है। जो पदार्थ आज हमारे लिए आवश्यक नहीं है, उसे भविष्य की चिन्ता रख-

कर संग्रह कर रखना परिग्रह है। परमेश्वर पर विश्वास रखनेवाला मनुष्य यह मानता है कि जिस वस्तु की जब निश्चित रूप से आवश्यकता होगी तब वह अवश्य प्राप्त हो जायगी, और इसलिए वह किसी पदार्थ के संग्रह करने के फेर में नहीं पड़ता।

२. इसका अर्थ यह नहीं है कि परमेश्वर उस व्यक्ति की भी आवश्यकताओं को पूरी कर देता है, जो सशक्त होने पर भी परिश्रम नहीं करता। जिसकी नीयत मिहनत करने की नहीं है, अथवा जो मिहनत करना एक आफ़त समझता है, उसे तो यह विश्वास ही नहीं हो सकता कि परमेश्वर सबका भरण-पोषण कर देगा, बल्कि उसका दारोमदार अपनी परिग्रह-शक्ति पर ही होता है। परमेश्वर उसीके निर्वाह की चिन्ता करता है, जो अपनी शक्तिभर पूरा-पूरा श्रम करता है और श्रम करने में ही प्रतिष्ठा समझता है, फिर भी अपरिग्रही रहता है।

३. फिर, अपरिग्रह का अर्थ यह भी नहीं है कि जो मनुष्य समाज में रहते हुए इस व्रत को पालन करना चाहता है वह अपने पास आई हुई वस्तुओं को रास्ते पर फेंक दे या उन्हें बिगड़ने दे। बल्कि वह अपने को उनका रक्षक समझे और उनको ठीक हिफ़ाजत से रक्खे। लेकिन, वह अपनेको एक पलभर के लिए भी उनका मालिक न समझे। अर्थात्, जिनको उन्हें उपयोग में लाना उचित हो उन्हें इस्तेमाल करने देने में रुकावट न डाले। जो मनुष्य अपने या अपने बाल-बच्चों के काम आने की अभिलाषा से एक चिन्धी भी बटोर रखता है और जरूरत होते हुए भी दूसरे को इस्तेमाल नहीं करने देता वह परिग्रही है, और जिसके मन की

वृत्ति ऐसी नहीं है वह लाख रुपये की पूँजी रखता हुआ भी अपरिग्रही है।

: ८ :

शरीरश्रम

१. जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करने के लिए स्वयं कायिक परिश्रम करना, यह अस्तेय और अपरिग्रह से उद्भव होने वाला सीधा नियम है। जो पदार्थ बिना परिश्रम के नहीं पैदा होते और जिनके बिना जीवन निभ नहीं सकता, उनके लिए बिना कायिक परिश्रम किये उनका उपयोग करना जगत के प्रति अपने आपको चोर ठहराना है।

२. पारमार्थिक बुद्धि से किये हुए ऐसे परिश्रम का नाम है यज्ञ। यदि हम अपने ही किये परिश्रम से उत्पन्न पदार्थों का स्वयं ही उपभोग करने की अभिलाषा रक्खें तो वह सकाम कर्म कहलाता है। ऐसी अभिलाषा के बिना जो यह समझ कर परिश्रम किया जाय कि इतने पदार्थ जगत के लिए पैदा करना आवश्यक ही हैं, तो वह परिश्रम निष्काम कर्म है, और वही यज्ञ है।

३. कूड़ा, करकट, मल, मूत्र आदि अनर्थकारी पदार्थ की उचित व्यवस्था करने के लिए जो परिश्रम किया जाता है वह भी एक प्रकार का यज्ञ ही है। ऐसा परिश्रम भी हर एक को अवश्य करना चाहिए।

४ इस दृष्टि से देखने पर मालूम पड़ता है कि हम सब लोग, जो कि पढ़े-लिखे समझे जाते हैं, अपने कायिक परिश्रम से जितना

उत्पन्न कर सकते हैं, उससे कहीं अधिक पदार्थों का उपभोग करते हैं और फिजूल संग्रह कर रखते हैं, फिर अनर्थकारी वस्तुओं की व्यवस्था करने के लिए तो हम शायद ही कायिक परिश्रम करते हों। इससे अनेक प्राणियों को तंगी और कष्ट भुगतना पड़ता है। अर्थात् हम अस्तेय और अपरिग्रह का भङ्ग क़दम-क़दम पर कर रहे हैं।

५. इस कारण, हमें अस्तेय आदि व्रतों की दिशा में प्रगति करने के लिए पहला जरूरी क़दम यह है कि अपनी आवश्यकताओं को और निजी परिग्रह को जितना हो सके उतना घटाते जाना, और उत्पादक श्रम के लिए तथा अनर्थकारी पदार्थों के उचित प्रबंध के लिए निष्कामभाव से और यज्ञबुद्धि से नियमपूर्वक अपने स्वयं कायिक श्रम के स्वरूप में योग देना।

६. इसके लिए भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थिति में कताई तथा मलमूत्र को साफ़ करके उसकी उचित व्यवस्था करना इनको आश्रम में यज्ञ-कर्म माना है। इसका अधिक विचार आगे किया जायगा।

: ६ :

स्वदेशी

१. शरीरश्रम के सिद्धान्त में से ही स्वदेशी-धर्म का उद्भव है।

२. जो व्यक्ति अस्तेय और अपरिग्रह का आदर्श अपने सामने रक्खेगा वह लाचारी की हालत में ही दूसरे के परिश्रम से लाभ उठावेगा।

अपने निजी दैनिक काम, जैसेकि भोजन बनाना, कपड़े धोना, मलमूत्र साफ करना, बरतन माँजना, हजामत करना, झाड़ू देना आदि के लिए वह दूसरों की सेवा यह समझकर नहीं ग्रहण करेगा कि इन कार्यों को स्वयं न करने में, अथवा दूसरों के पास कराने में, मान या प्रतिष्ठा है। परन्तु यदि वह ऐसी सेवा लेगा तो उसका कारण अपनी अशक्ति, या साथियों का प्रेम, या उनके साथ अङ्गीकृत कार्यों में सुविधा की दृष्टि से उत्पन्न श्रम-विभाग होगा। इसमें ऐसी भावना की गन्ध तक न होगी कि अमुक काम बड़ा है और अमुक छोटा, अथवा अमुक काम करनेवाला उस काम के स्वरूप के ही कारण आदरणीय है अथवा तुच्छ है।

३. ऊपर के सूत्र में जो सिद्धान्त बताया गया है वह हुआ आदर्श। परन्तु जब हम साथीपन की भावना का विस्तार करते हैं और जगत में जिस तरह प्रत्यक्षतः व्यवहार चल रहा है उसका विचार करते हैं, तो मालूम होता है कि हमारी कितनी ही आवश्यकताओं को प्राप्त करने के लिए कुटुम्ब अथवा साथियों के ही साथ सहयोग-मूलक श्रम-विभाग काफी नहीं होता। बल्कि पड़ोसी और ग्रामवासियों के साथ भी सहयोग और श्रम-विभाग करना पड़ता है। इसीसे स्वदेशी-धर्म की उत्पत्ति हुई है।

४. स्वदेशी-व्रत का जन्म महज देशाभिमान के विचार में से नहीं, बल्कि धर्म-विचार में से हुआ है। समस्त विश्व के साथ बन्धुत्व की भावना रखने का प्रयत्न करते हुए भी जिन पड़ोसियों में हमारा जीवन दिन-रात गुजरता है, अनेक विषयों में जिनके साथ हमारा सम्बन्ध बँध गया है और बँधता रहता है, उन्हींके साथ पहले

व्यवहार करना उचित है। ऐसे धर्मयुक्त व्यवहार की अवगणना करके विश्वबन्धुत्व नहीं हो सकता; वह केवल दिखावा बनकर रह जायगा।

४. सम्भव है कि केवल राष्ट्रीयता की भावना से उपजा स्वदेशी-विचार विदेशियों के हित की उपेक्षा करे और उनका अहित करने का भी मौक़ा खोजे। धर्मरूप स्वदेशी स्वराष्ट्र का कल्याण सिद्ध करते हुए भी पर-राष्ट्र का अकल्याण हो ऐसी न इच्छा करेगा और न वैसी चेष्टा करेगा।

: १० :

अभय

१. जो मनुष्य अपने मन के विकारों के अलावा दूसरी आपत्तियों का भय रखता है, वह अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। इस कारण अभय दैवी सम्पत्तियों में ऐसा गुण है जिसे प्रथम प्राप्त करना चाहिए।

२. मनुष्य आमतौर पर बीसों बातों से डरता रहता है—जैसे, मौत से, शारीरिक कष्टों से, धननाश से, मार-काट से, ज़ुल्म और अत्याचार से, मानहानि से, लोकनिन्दा से, कौटुम्बिक क्लेश से, अथवा इस ख़याल से कि कुटुम्बियों को दुःख होगा, ख़याली वहमों से, इत्यादि। जो मनुष्य डरता है वह धर्माधर्म का गहरा विचार करने का साहस ही नहीं कर सकता। वह सत्य की खोज नहीं कर सकता और न प्राप्त होने के बाद उसपर आरूढ़ ही रह सकता है। इस तरह उससे सत्य का पालन भी नहीं हो सकता।

२. मनुष्य के लिए डरने योग्य वस्तु सिर्फ एक ही है—उसका अपना विकार से युक्त चित्त। चाहे ईश्वर का डर कहिए, चाहे अधर्म का डर कहिए, या अपने विकार-रूपी शत्रु का डर कहिए, तीनों एक ही हैं। यदि विकार न हों तो अधर्म नहीं हो सकता, और अधर्म का डर न हो तो 'ईश्वर का डर' यह शब्द-प्रयोग ही नहीं ठहर सकता।

: ११ :

नम्रता

१. नम्रता को अहिंसा का ही एक अंश कह सकते हैं। जहाँ अहंकार है वहाँ नम्रता की न्यूनता है। जो अहंकारी है वह सर्वात्मभाव नहीं रख सकता, इसलिए उसकी अहिंसा में कमी आजाती है।

२. शून्यवत होकर रहना नम्रता की पराकाष्ठा है। मैं भी कुछ हूँ, मुझमें कुछ विशेषता है—ऐसा भान अपने शरीर, मन, बुद्धि, विद्या, कला, चतुरता, पवित्रता, ज्ञान, भक्ति, उदारता, व्रत-पालन अथवा विनयादि गुणों के विषय में रहता हो और इससे अपने अन्दर आढ्यता का अनुभव होता हो तो वह अहंकार है। ऐसे भान का कम-से-कम होना—जैसे कि अपने नीरोग अवयवों के प्रति होता है—शून्यवत स्थिति अथवा नम्रता है।

३. इस प्रकार की नम्रता अभ्यास से नहीं प्राप्त की जा सकती। परन्तु अनेक सद्गुणों से और सुविचारों से परिपूर्ण जीवन के परिणाम-स्वरूप स्वभाव में अपनेआप प्रकट होती है। नम्र मनुष्य को अपनी नम्रता का भान तक नहीं होता।

४. कई बार बाह्यतः दीखनेवाली नम्रता की ओट में सूक्ष्म और तीव्र अभिमान छिपा हुआ होता है। यह नम्रता नहीं है।

५. अपनी मर्यादाओं को समझना और उन्हींको सम्हालकर रहना यह भी नम्रता का एक आवश्यक लक्षण है।

६. नम्र मनुष्य दुनियाभर के कार्यों को हथियाने का दम नहीं भरता। किन्तु अपनी मर्यादा निश्चित करता है, और जबतक वह सिद्ध नहीं होती तबतक उसके बाहर क़दम नहीं बढ़ाता।

७. सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों के पालन की अपनी शक्ति कितनी मर्यादित है इसकी ओर ध्यान दे तो वह सहज ही नम्र रहेगा।

८. एक ओर से वह सत्य, अहिंसा आदि में भरी हुई शक्ति के लिए अपनी श्रद्धा कम न होने दे; दूसरी ओर से इनकी चरम-सीमा तक पहुँचने के लिए अपनी शक्ति अति अल्प है यह देख हताश न हो। किन्तु नम्रतापूर्वक अपनी मर्यादा को समझता हुआ इन सबको अपने जीवन में चरितार्थ करने को सदैव यत्न-शील रहे।

९. आदर्श को पहुँचने में अपनी कमियों के प्रति नम्र मनुष्य अन्धा नहीं होता। इन कमियों को वह पूर्णरूप से स्वीकार करता है, उनका समर्थन करने के लालच में नहीं पड़ता।

: १२ :

व्रत-प्रतिज्ञा

१. अपनी सम्मति में जो आचरण सत्य विचार के अनुसार प्रतीत हो, उसे करने और उसपर दृढ़ रहने तथा उसके विपरीत आचरण कभी न करने की प्रतिज्ञा को व्रत कहते हैं।

२. इस अविचलता में जितनी ढिलाई होती है, उतनी ही सत्य की प्राप्ति में कमी रह जाती है।

३. सदैव सत्य-रूपी परमात्मा में स्थित रहने के लिए, अर्थात् मन, वचन, कर्म से सत्यनिष्ठ रहने की अवस्था को प्राप्त करने के लिए, ऐसी प्रतिज्ञायें आवश्यक हैं।

४. असावधानता, कुसंगति, अथवा पूर्व-जीवन की कुटेव या कुसंस्कारों के कारण,मन अपने कृत निश्चयों पर टिका नहीं रहता। इस कारण, उसे व्रतरूपी बेड़ियों से कस लेना उसे स्थिर करने का एक अच्छा उपाय है।

५. यह तो स्पष्ट ही है कि जो आग्रह, विचार, वाणी और कर्म सत्य हो उसीका व्रत लिया जा सकता है। असत्य आग्रह,विचार, वाणी अथवा कर्म का व्रत नहीं लिया जा सकता, और यदि लिया भी गया हो तो उसे छोड़ना चाहिए। व्रत में ऊर्ध्वगमन है, परिश्रम है। वह असत्य या भोगादि में नहीं होता। इस कारण, भोग में प्रवृत्त रहने का व्रत नहीं हो सकता।

६. जबतक यह न प्रतीत हो कि यह असत्य है तबतक जो व्रत एक बार लिया जा चुका हो, उसे किसी दशा में तोड़ा नहीं

जा सकता। उसका पालन करते हुए जो कठिनाइयाँ आवें उनका सामना करना ही चाहिए।

: १३ :

उपासना-प्रार्थना*

१. उपासना के मानी हैं परमेश्वर के निकट बैठना। बड़ों के पास बैठने का मतलब है तद्रूप होजाना। परमेश्वर यानी सत्य। इसलिए सत्यरूप होने का नाम है उपासना। सत्यरूप होने की तीव्र इच्छा करना, भगवान से विनती करना—यही प्रार्थना है।

२. सत्यरूप होने से मतलब है निर्विकार होना। निर्विकारी होने के लिए विकारी विचार उत्पन्न भी न होने चाहिएँ। मन कभी खाली नहीं रहता—या तो वह विकारी विचार करेगा, अथवा सत्य की ओर जायगा। राम,कृष्ण आदि सत्य की मूर्त्तियाँ है। इसलिए इनका जो स्मरण वही नामस्मरण है। यह स्मरण यदि हृदय से हो तो स्मरण करनेवाला अवश्य ही तद्रूप हो जायगा।

३. उपासना श्रद्धा का विषय है, न कि बुद्धि का। उपासना करते-करते अवश्य ही शुद्ध हो जाऊँगा, ऐसी श्रद्धा रखकर नित्य उपासना करनी चाहिए। जिस प्रकार अन्नादि शरीर का पोषण करते, हैं उसी प्रकार उपासना आत्मा का पोषण करती है।

४. सत्यरूप परमेश्वर प्राणिमात्र के भीतर बसता है। अतः

---

*यह प्रकरण स्वयं गांधीजी ने लिखा है।—कि० घ० म०

प्राणिमात्र से एकत्व की सिद्धि करना आवश्यक है। इसलिए उपासना व्यक्तिगत एवं सामुदायिक भी होनी चाहिए।

५. जीवमात्र से एकत्व सिद्ध करने का अर्थ है उनकी सेवा करना। इसलिए निष्काम सेवा भी उपासना है।

: १४ :

व्रतों की साधना

१. गाय की रक्षा करने के लिए झूठ बोलना उचित है या नहीं, साँप जैसे प्राणियों को मारना योग्य है या नहीं, स्त्री पर बलात्कार करने के इरादे से धावा करनेवाले अत्याचारी का सामना करना योग्य है या नहीं—इस प्रकार की तार्किक पहेलियों की उलझन में पड़कर व्रतों की साधना नहीं हो सकती। इन जटिल समस्याओं का समाधान जब होनेवाला होगा तब होगा। हमारे लिए इतना ही समझना काफ़ी है कि यदि हमने अपने जीवन के दैनिक और सामान्य व्यवहारों में व्रतों की साधना सुचारुरूप से की होगी तो विषम अवसरों पर हमको किस प्रकार का आचरण करना चाहिए इसकी सूझ हमको स्वयं अपनेआप हो जायगी।

२. दैनिक और सामान्य व्यवहार के कुछ उदाहरण बताये जाते हैं :—

(क) असत्याचरण के—किसीके विषय में बुरी राय रखते हुए ऊपर-ऊपर अच्छी राय दिखाना, बड़ा या अच्छा कहलाने की इच्छा से जो गुण अपनेमें नहीं हैं उनका स्वाँग भरना, अत्युक्तिपूर्ण बोलना, अपने दोष जिनके आगे प्रकट करना

आवश्यक है उनसे छिपाना, साथी या वरिष्ठ के प्रश्नों का चालबाजी से उत्तर देना, जिस बात को प्रकाशित करना चाहिए उसे गुप्त रखना, विश्वासघात करना, वचनभंग करना आदि।

(ख) हिंसा के—किसीका अपमान करना, दुत्कारना, बुरी वस्तु दूसरे को देकर अच्छी अपने लिए रख छोड़ना, अपना काम साथी पर डाल देना, पड़ोसी या साथी के दुःख या बीमारी में समवेदना अनुभव न करना और उसको कर्म से व्यक्त न करना, अपने पास होते हुए भी भूखों को अन्न और प्यासे को पानी न देना, अतिथि का सत्कार न करना, मजदूर से तुच्छतापूर्वक बोलना और उसपर बिना सोच-विचार किये काम लाद देना, जानवर को कांटा, डण्डा, गाली आदि के द्वारा पीड़ा पहुँचाना, भोजन में भात कच्चा रह गया, दाल में नमक अधिक हो गया, साग रुचिकर नहीं है—ऐसी-ऐसी क्षुद्र बातों पर चिढ़ना, या कुढ़ना इत्यादि इत्यादि।

इसी प्रकार दूसरे व्रतों के विषय में भी समझना चाहिए।

३. ब्रह्मचर्य के पालन में निम्नलिखित सूचनायें उपयोगी होने योग्य हैं :—

(क) बालक-बालिकायें जीवनभर निर्विकार ही रहेंगे, इस श्रद्धा से उनका सादे और नैसर्गिक ढंग से सांगोपन करना।

(ख) मिर्च और गरम मसालों से परहेज़ रखना, चरबीवाले गुरु पदार्थ, गुरुपाक मिष्टान्न, मिठाई और तले हुए पदार्थों को छोड़ देना।

(ग) पति-पत्नी का जुदे-जुदे कमरे में सोना और एकान्त टालना।

(घ) शरीर और मन दोनों को लगातार अच्छे कार्यों में नियुक्त रखना।

(ङ) रात को जल्दी सोने और सुबह जल्दी उठने के नियम का सख्ती से पालन करना।

(च) किसी भी प्रकार का बीभत्स साहित्य न पढ़ना। बुरे विचारों का औषध निर्मल विचार है।

(छ) थियेटर, सिनेमा आदि विकारों को जाग्रत करनेवाले तमाशों में न जाना।

(ज) स्वप्नदोष हो तो घबराना नहीं। तन्दुरुस्त मनुष्य के लिए इसका सबसे अच्छा इलाज है तुरन्त ठण्डे पानी से नहाना। कभी-कभी स्त्री-संग करना स्वप्नावस्था का इलाज है, यह खयाल भ्रमपूर्ण है।

(झ) सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि संयम—विशेषकर पति-पत्नी के बीच में—दुर्घट है, अथवा शरीर और मन के लिए हानिकर है, अथवा विषय-भोग आरोग्य-दृष्टि से आवश्यक है, ऐसी अप्रामाणिक सम्मतियों पर तनिक भी विश्वास न करना चाहिए। बल्कि संयम ही जीवन की स्वाभाविक और साधारण स्थिति है, ऐसा मानकर चलना चाहिए।

(ञ) रोज उठते ही पवित्रता और निर्मलता की अभिलाषा से एकाग्र चित्त हो प्रभु की प्रार्थना करना, रामनाम या इसी प्रकार के दूसरे मन्त्र का सहारा ले लेना—यह विषयेच्छा को

जीतने का सुवर्ण नियम है। (इस विषय के अधिक पठन के लिए 'अनीति की राह पर'* देखिए)

४. (क) प्रार्थना के समय निद्रा अथवा आलस्य का अनुभव होना, बातों में प्रवृत्त होना, ध्यान न लगना, मन का यहाँ-वहाँ भटकना, आदि दोष होने से प्रार्थना छूट गई समझना चाहिए। यह सब परवश होने लगे तो उसके निवारणार्थ प्रार्थना में जाने से पहले ही उठकर हाथ-मुँह धो लेना चाहिए, और ताजा रहने का निश्चय कर लेना चाहिए। फिर भी वश न चले तो, छोटा हो या बड़ा, शर्म न रखते हुए प्रार्थना में खड़े हो जाना चाहिए।

(ख) प्रार्थना में एक-दूसरे से सटकर न बैठना चाहिए। डण्डे की नाईं सीधे बैठकर धीरे-धीरे साँस लेना चाहिए।

(ग) प्रार्थना के श्लोक, भजन आदि के उच्चारण और ध्वनि सीखने की कोशिश करनी चाहिए। जबतक ये न आवें तबतक ज़ोर से न गाते हुए मन-ही-मन गाना चाहिए। यह भी न आवे तो केवल रामनाम लेना चाहिए।

(घ) प्रार्थना में जो कुछ गाया या कहा जाता हो उसका अर्थ समझ लेना चाहिए और उसका मनन करना चाहिए।

(ङ) प्रार्थना व्यक्तिगत और सामुदायिक दोनों महत्त्वपूर्ण हैं, दोनों एक-दूसरे का पोषण करती हैं। व्यक्तिगत प्रार्थना का मूल्य समझ में न आने से सामुदायिक प्रार्थना में रुचि नहीं होती,

---

*महात्माजी की यह पुस्तक मण्डल से प्रकाशित हुई है। मू० ||=)

और व्यक्ति सामुदायिक प्रार्थना से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा सकता। अतः हरेक व्यक्ति को व्यक्तिगत प्रार्थना भी नियमित रूप से करनी चाहिए।

(च) इसके कम-से-कम दो समय हैं। प्रातः उठते ही और रात को आँख मींचने से पहले। किन्तु यह नहीं मानना चाहिए कि केवल ये दो ही समय व्यक्तिगत प्रार्थना के लिए नियत हैं। अपनी प्रत्येक क्रिया और क्षण का ईश्वर को साक्षी बनाना व्यक्तिगत प्रार्थना है। इसके लिए कोई खास मन्त्र या भजन की आवश्यकता नहीं है। इसमें तो चाहे जिस नाम से, चाहे जिस ढंग से और चाहे जिस दशा में, ईश्वर का स्मरण करना है। प्रत्येक साँस के साथ रामनाम निकले ऐसी स्थिति को पहुँचना प्रार्थना का ध्येय है।

(छ) फिर भी ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इसमें समय लगता है। इसलिए समय की नहीं वरन् अमूर्छा—नित्य सावधानता और तत्परता—की तथा मलिनता के त्याग की जरूरत है।

खण्ड २ :: धर्ममार्ग

: १ :

सर्वधर्म समभाव

१. प्रत्येक युग और प्रत्येक राष्ट्र में सत्य के तीव्र शोधक और जन-कल्याण के लिए अत्यन्त उत्साह रखनेवाले विभूतिमान् पुरुष और सन्त पैदा होते हैं। उस युग और देश के दूसरे लोगों की अपेक्षा वे सत्य का कुछ अधिक दर्शन किये होते हैं। कुछ तो यह दर्शन सनातन सिद्धान्तों का होता है और कुछ तत्कालीन परिस्थिति से उत्पन्न हुआ होता है। फिर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कितने ही सिद्धान्तों को वे सनातनरूप में देख और समझ तो लेते हैं; किन्तु उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने के लिए, उस युग और देश की स्थिति के अनुकूल मर्यादा के अन्दर ही उसकी प्रणाली उन्हें सूझती है। इन्हीं कारणों से जगत् में भिन्न-भिन्न धर्मों की उत्पत्ति हुई है।

२. जो इस तरह विचार करता है उसे किसी धर्म में सत्य का अभाव नहीं दिखाई देगा, साथ ही किसी धर्म को वह पूर्ण सत्य के रूप में भी नहीं ग्रहण करेगा। वह देखेगा कि सब धर्मों में परिवर्तन और विकास के लिए जगह है। वह यह भी देखेगा कि यदि विवेक-पूर्वक अनुसरण किया जाय तो प्रत्येक धर्म अपनी प्रजा का कल्याण-साधन कर सकता है और जिसके दिल में लगन लगी है उसे सत्य की झलक दिखाने तथा शान्ति और समाधान प्राप्त कराने में समर्थ है।

३. ऐसे लोग यह अभिमान नहीं रख सकते कि हमारा ही धर्म श्रेष्ठ है, और मनुष्य-मात्र को अपने उद्धार के लिए उसका स्वीकार करना जरूरी है। वह न तो अपने धर्म को छोड़ेगा ही और न उसके दोषों की ओर से आँखें मूँदेगा। जैसा स्वधर्म के प्रति वह आदर-भाव रक्खेगा वैसा ही दूसरे धर्मों और अनुयायियों के प्रति भी रखेगा। और वह इतनी ही इच्छा रक्खेगा कि प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने धर्म के उत्तमोत्तम सिद्धान्तों का यथावत् पालन करें।

निन्दक बुद्धि तो परधर्म में छिद्र ही देखेगी। इसके विपरीत सत्यशोधक प्रत्येक धर्म में से सत्य के विकसित अंश को ग्रहण कर लेगा। इस कारण सत्यशोधक प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को ऐसा ही प्रतीत होगा मानों वह उन्हींके धर्म का सच्चा बन्दा है। इसप्रकार सत्यशोधक अपने जन्म-धर्म का त्याग किये बिना ही सब धर्मों के अनुयायी की तरह प्रतीत होगा।

: ५ :

धर्म और अधर्म

१. सत्यशोधक सब धर्मों के प्रति समभाव रक्खेगा; परन्तु अधर्म का तो विरोध ही करेगा—फिर वह अधर्म चाहे अपने धर्म के नाम पर चल रहा हो चाहे स्वतंत्ररूप से चल रहा हो।

२. सब धर्मों में कुछ-न-कुछ अपूर्णता होने से प्रत्येक धर्म में धर्म के नाम पर अधर्म घुस जाता है। पर चूँकि वह धर्म के नाम पर घुस गया है इसलिए धर्म और अधर्म में भेद करना कठिन होगया है; परन्तु वह करना है लाजमी।

३. किसी भी धर्म के प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन-चरित्र में कोई दोष मालूम हो तो उसपर जोर देकर उस धर्म को लोगों की निगाह में गिराना—यह तरीक़ा निन्दकों का है। परन्तु उन दोषों को यदि दूसरों के लिए आचरण के नियम के तौर पर पेश किया जाता हो तो वह अधर्म है और उसका अवश्य विरोध किया जा सकता है।

४. आम तौर पर यह कहा जा सकता है कि अधर्म वह है जो सत्य आदि यम-नियमों का इस प्रकार विरोधी है कि जिससे वह धर्म के विकास का नहीं, बल्कि भंग का पोषण करता है। यह निश्चय करना है तो कठिन, परन्तु भक्तिमान और विवेकशील पुरुष को वह अपनेआप सूझता रहता है।

५. सत्यशोधक अधर्म का तो सब जगह विरोध करेगा, परन्तु उसके साथ ही वह अधर्म और अधर्मी में भेद भी करेगा। अधर्म का विरोध करता हुआ भी वह अधर्मी व्यक्ति से द्वेष न करेगा।

इसका अर्थ यह हुआ कि अधर्मी का विरोध वह सत्य और अहिंसामय साधनों द्वारा ही करेगा। अधर्म का नाश करने के लिए वह असत्य, हिंसा आदि अधर्मयुक्त साधनों का अवलम्बन करके उलटा अधर्म मोल नहीं लेगा।

: ३ :

सत्याग्रह

१. इस तरह अब हम सत्याग्रह के तत्त्व तक आपहुँचे हैं। सत्याग्रह की संक्षिप्त व्याख्या यह हो सकती है कि स्वयं सत्यादि धर्मों के पालन का आग्रह रखना और सत्यादि साधनों के द्वारा ही अधर्म का विरोध करना।

२. विरोध करने में खास करके अहिंसा-भंग की सम्भावना रहती है, इसलिए अहिंसा पर अधिक जोर देकर कहा जाता है कि अहिंसामय साधन से अधर्म के विरोध का नाम है सत्याग्रह। 'सत्याग्रह' के नाम से जिस युद्धविधि का प्रचार हुआ है उसके शुद्ध प्रकार की यह स्थूल व्याख्या कही जा सकती है।

३. अधर्म का विरोध करने के लिए आवश्यक सत्याग्रह का सविस्तार विचार आगे किया जायगा। यहाँपर तो इतना ही कहना बस होगा कि जितनी सिद्धि हमने अपने आचरण में सत्यादि नियमों के पालन में की होगी, उतनी ही शक्ति हमें अधर्म के विरोध-रूप में किये गये सत्याग्रह के लिए मिल जायगी और उसके उचित विधि-विधान सूझते जायँगे।

४. परन्तु इस शक्ति का आना सत्याग्रही जीवन का दूसरा

और प्रत्यक्ष फल कहा जा सकता है। यह फल निकले या न निकले; परन्तु इसका मुख्य फल तो इस जीवन के फलस्वरूप सत्य-रूपी परमेश्वर की पहचान ही है।

: ४ :

हिन्दू-धर्म

१. हिन्दुओं के लिए हिन्दू-धर्म काफ़ी है। सत्यशोधक को अपनी आध्यात्मिक उन्नति करने के लिए इसमें काफ़ी सामग्री मिल जाती है।

२. सनातन हिन्दू-धर्म के श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, सन्तों की संस्कृत अथवा प्राकृतवाणी आदि धर्म-ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में भिन्न-भिन्न ऋषि, मुनि, कवि और विचारकों ने धर्म के भिन्न-भिन्न अंगों का विविध प्रकार से विवेचन किया है। परन्तु इनके तमाम वचनों का मूल्य एक-सा नहीं समझा जा सकता। इनमें कितने ही तो अग्राह्य भी मालूम होंगे। फिर भी नीर-क्षीर-विवेक से काम लेनेवाले जिज्ञासु को ऐसा साहित्य बहुतेरा मिल सकता है जो उसकी धर्म-वृत्ति के लिए पोषक हो।

३. सनातन हिन्दू-धर्म एक सच्चिदानन्द परमात्मा को ही मानता है और कहता है कि वह मन और वाणी से परे है। फिर भी सब कुछ परमात्म-रूप है, इस सिद्धान्त से और विभूति के सिद्धान्त के अनुसार उसमें अनेक देवी-देवताओं की, जोकि अनेक प्रकार की कामनाओं और रूपकों द्वारा भिन्न-भिन्न आदर्शों के प्रदर्शक हैं; ऐतिहासिक व्यक्तियों की, जिनका कि वर्णन अवतार-

रूप में किया गया है, और सद्गुरु की उपासना भी, उपासक की रुचि के अनुसार, करने की स्वतन्त्रता रक्खी गई है। सनातन हिन्दू-धर्म की दृष्टि इन दो उपासनाओं में विरोध नहीं देखती, बल्कि मेल बैठाती है; इस कारण सनातन हिन्दूधर्म में मूर्त्तिपूजा का निषेध नहीं किया गया है।

४. सनातन हिन्दूधर्म पुनर्जन्म और मोक्ष के सिद्धान्तों को मानता है और मोक्ष को अन्तिम तथा श्रेष्ठ पुरुषार्थ समझता है। उसके लिए यम-नियम, व्रत-संयम, तीर्थ-यात्रा इत्यादि साधनों को विहित बताता है।

५. सनातन हिन्दूधर्म में वर्णाश्रम-व्यवस्था के लिए महत्त्व का स्थान है। यह भी कह सकते हैं कि यही उसकी विशेषता है। इसलिए हिन्दूधर्म को वर्णाश्रम-धर्म का नाम भी दिया जा सकता है। इसी प्रकार गो-रक्षा भी इस धर्म का सबसे बड़ा बाह्यस्वरूप है। परन्तु इन दोनों का विचार स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र करेंगे।

६. "वैष्णव जन तो तेने कहिए"—इस भजन में जो लक्षण बताये गये हैं वे सनातन हिन्दूधर्म के सच्चे चिह्न हैं।

: ५ :

गीता-रामायण

१. हिंदू-धर्म में यों अनेक माननीय ग्रन्थ हैं, फिर भी नित्य-मनन और गहरा अध्ययन करने योग्य दो ही हैं—(१) संस्कृत में गीता और (२) हिन्दी में तुलसी-कृत 'रामचरित-मानस'। इनका महत्त्व सबसे अधिक है और इन्हें साधारणतः काफी कह सकते हैं।

२. जो तत्त्व-दर्शी और सूक्ष्म-विवेचक हैं उनके लिए गीता है और जो काव्यमय कथानकों द्वारा सरल और सुबोध रीति से धर्म, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि का रहस्य समझना चाहते हैं उनके लिए तुलसी-रामायण है। ये दो पुस्तकें हिन्दू-धर्म में बेजोड़ हैं।

३. अनासक्तियोग गीता का ध्रुव-पद है—अर्थात् कर्म के फल की अभिलाषा को छोड़कर सतत कर्तव्य-कर्म में निरत रहने का यह उपदेश ऐसी ध्वनि है जो कभी नहीं भुलाई जा सकती। उसमें कर्म-मात्र का निषेध नहीं किया गया है और न यही कहा गया है कि कर्माकर्म में विवेक न करो। बल्कि उसमें दुष्कर्मों का निषेध है और सत्कर्म के लिए भी कहा गया है कि फलासक्ति को छोड़-कर करो। सत्य और अहिंसादिक के पूर्ण रूप से पालन किये बिना इस योग की सिद्धि असम्भव है।

४. गीता का चाहे जितना पाठ, वाचन और मनन कर जाइए, वह कभी पुराना नहीं मालूम होता। ज्यों-ज्यों विचार करते हैं और उसके अनुसार जीवन बनाते जाते हैं त्यों-त्यों उसकी पुनरावृत्ति में नवीन बोध मिलता ही रहेगा—यही नहीं, बल्कि गीता में प्रयुक्त महाशब्दों के अर्थ प्रत्येक युग में बदलेंगे और विस्तार पावेंगे।

खण्ड ३ :: समाज

: १ :

वर्णाश्रम

१. जैसा कि पहले बताया गया है, हिन्दू-धर्म का सच्चा नाम वर्णाश्रम धर्म है यह कह सकते हैं। वर्णाश्रम-व्यवस्था से इस धर्म की विलक्षणता सूचित होती है। इसका मूल वेद में ही है।

२. प्रत्येक धर्म की कुछ-न-कुछ विशेषता होती है। हिन्दू लोगों ने जिस धर्म का पालन किया है उसका अगर कोई सूचक और खास नाम दिया जा सकता हो तो अवश्य ही वह वर्णाश्रम धर्म है।

३. कोई भी हिन्दू इस वर्णाश्रम की उपेक्षा नहीं कर सकता। इस प्रथा को समझ लेने के बाद अगर दोषपूर्ण मालूम हो तो ज्ञानपूर्वक उसका त्याग करना उचित है; और अगर यह प्रथा उस धर्म की निर्दोष विशेषता हो तो (और वह है) उसका पोषण और पुनरुद्धार करना चाहिए।

४. वर्णाश्रम-व्यवस्था समाजरचना की कोई मनस्वी व्यवस्था नहीं है। परन्तु उसके पीछे सिद्धान्त का ज्ञान समाया हुआ है। अर्थात् उसके पीछे मानवमात्र को लागू होनेवाले नियमों का ज्ञान है।

५. इस प्रकार वर्णाश्रम की शोध हिन्दूधर्म में हुई है सही, पर ऐसा नहीं है कि उसके पीछे जो सिद्धान्त हैं वे हिन्दुओं को ही लागू होते हैं औरों को नहीं। भले ही जगत् आज उनको स्वीकार न करे। उतना ही उसका नुक़सान होगा। आज नहीं तो कल जगत को उनको स्वीकार करना ही पड़ेगा।

: २ :

वर्ण-धर्म

१. वर्ण याने धंधा। वर्ण-धर्म के सिद्धान्त को संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—जो मनुष्य जिस कुटुम्ब में पैदा हो उसका धंधा, अगर नीतिविरुद्ध न हो तो, धर्मभावना से करे और इस प्रकार करते हुए जो अर्थप्राप्ति हो उसमें से अपनी सामान्य आजीविका जितना रखकर बाक़ी का सार्वजनिक कल्याण में लगावे।

२. वर्ण धर्म है, अधिकार नहीं। इसका मतलब यह कि हरेक वर्ण को अपने-अपने कर्म का धर्म समझकर पालन करना चाहिए। उदरपोषण यह तो उसका यत्किंचित् फल है। वह मिले या न मिले फिर भी जो समझदार हैं उन्हें तो अपने धर्म में ही रत रहना चाहिए।

३. दूसरे, उसका अर्थ यह भी है कि वर्ण-वर्ण के बीच ऊंच-नीच के भेद न हों, बल्कि वर्णमात्र सब समान हैं।

४. वर्ण का निर्णय सामान्यतः जन्म से किया जाता है; अमुक अंश में कर्म से भी किया जाता है। सामान्यतः मनुष्य को अपने पैत्रिक धंधा करने की कला विरासत में मिलती है। यह नियम सर्वव्यापक है और जान या अनजान में कम-बढ़ सभी उसका पालन करते हैं। हिन्दू पूर्वजों ने कठिन तपश्चर्या से इस महान् नियम की शोध की और यथाशक्ति उसका पालन किया। जगत् अगर इस धर्म अथवा नियम का अनुसरण करे तो सब जगह संतोष फैले, झूठी प्रतिस्पर्धा मिटे और ईर्ष्या दूर हो, कोई भूखों न मरे, जन्म-मरण समतोल रहे और व्याधियाँ दूर हों।

५. इस धर्म-व्यवस्था में ब्राह्मण ब्रह्म को पहचानने में और दूसरों को इसका उपदेश करने में समय बितायें और ऐसा करते हुए भगवान् उसे उसकी आजीविका देते हैं यह माने। क्षत्रिय प्रजापालन का धर्म पाले, इसके लिए अपनी आजीविका के अर्थ मर्यादित द्रव्य वह ले। वैश्य प्रजा के कल्याण के लिए खेती, गो-पालन और व्यापार करे और यह करते हुए जो अर्थलाभ हो उसमें से अपनी आजीविका जितना लेकर बाक़ी का लोककल्याण के काम में लगावे। इसी प्रकार शूद्र जो परिचर्या करे वह भी धर्म समझ कर।

६. और फिर, इस व्यवस्था में जिनके पास जो मिल्कियत होगी उसका वह सारी प्रजा के हित में संरक्षक या रखवाला होगा। अपने को वह कभी उसका स्वामी नहीं मानेगा। राजा

अपने महल का या प्रजा से उगाये कर का मालिक नहीं, संरक्षक रखवाला है। अपनी पेट-पूर्तिभर लेकर बाक़ी का उपयोग प्रजा के लिए करने को वह बँधा हुआ है। याने अपनी कार्यदक्षता से उसमें वृद्धि करके प्रजा को वह वापस कर देगा। इसी प्रकार वैश्य का समझना चाहिए।

७. शूद्र का तो कहना ही क्या ? उसके पास तो कभी कोई सम्पत्ति होनेवाली ही नहीं है; इस कारण जो शूद्र केवल धर्म समझकर परिचर्या ही करता है, और जिसे मालिक होने का लोभ ज़रा भी नहीं है, वह तो हज़ारों में वंदना करने के योग्य है और सर्वोपरि है।

८. परन्तु, इस शूद्र के धर्म की स्तुति करना तभी शोभा देता है जब ये तीनों वर्ण अपने को प्रजा के सेवक समझते हों और अपने को अपने पास की संपत्ति के सार्वजनिक संरक्षक मानते हों; और यह धर्म लादा तो जा ही नहीं सकता।

९. वर्ण को धर्म के रूप में बताकर उसके शोधकों ने यह सूचित किया है कि उसके पालन में बलात्कार की ज़रा भी गंध न होनी चाहिए। उसके पालन से ही जगत् निभ सकता है; जगत् को उसका पालन करना ही होगा यह समझकर हरेक को अपने-अपने वर्णधर्म का पालन करते-करते मर मिटना है, दूसरों के पास से उसका जोर-जबर्दस्ती से पालन नहीं कराना है।

१०. समझदार के लिए यह धर्मपालन सरल है।

११. इस प्रकार का वर्णधर्म समता का धर्म है; केवल साम्य 'वाद' नहीं। जगत् में जो विषमता फैली हुई है उसकी जगह

समता का साम्राज्य बना रहे। सब धंधे प्रतिष्ठा में और क़ीमत में एक समान माने जायँ। राजा और राजा के वज़ीर से लगाकर भंगी तक सब एक समान कमावें। तीन वर्ण ज्यादा कमावें और शूद्र कम कमावे, अथवा क्षत्रिय राजा होने से महल में रहें और ब्राह्मण भिक्षुक होने से झोंपड़ी में रहे, वैश्य बड़े-बड़े बाग़-बगीचे बसाकर रहें और शूद्र बिना घरबार का ग़ुलाम बनकर रहे, ऐसी दयाजनक स्थिति, जहाँ वर्ण-धर्म का पालन होता हो वहाँ हो ही नहीं सकती, और न होनी चाहिए।

१२. इस प्रकार के वर्ण-धर्म का आज लोप होगया है। कुछ लोग अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य मानते हैं सही। अपने को शूद्र मानने में सब लज्जित होते हैं। इस प्रकार यह कह सकते हैं कि वर्ण नाम का रहा है। फिर भी व्यवहार में अगर हम 'वर्ण' यह संज्ञा रखें ही तो हम सब शूद्र ही कहे जावेंगे। और सच पूछो तो शूद्र भी नहीं क्योंकि शूद्रवर्ण भी धर्म है; अतः स्वेच्छा से स्वीकार करने की वस्तु है; उसमें लज्जा के लिए स्थान हो ही नहीं सकता। ऐसा तो आज है नहीं, इस कारण हम तो केवल काल के वश होकर शूद्रता अर्थात् दासत्व को प्राप्त हुए हैं।

१३. जो मनुष्य जिस वर्ण का कर्म करता है उस वर्ण का वह माना जाता है, और वर्णों के करने के काम तो होते ही रहते हैं। इस पर से यह कहा जाता है कि वर्ण-धर्म का लोप नहीं हुआ है, यह ठीक नहीं है। क्योंकि जहाँ कर्म में मिलावट होती है, जहाँ सब स्वेच्छा से जो ठीक लगे वही कर्म करने लगते हैं, वहाँ वर्ण-धर्म का पालन नहीं, बल्कि वर्ण का संकर ही है।

१४. वर्ण में ऊँच-नीच के भाव को स्थान ही नहीं है। पर लम्बे अर्से से हिन्दू-धर्म में धर्म के नाम पर ऊँच-नीच का भेद दाखिल होगया है। यह वर्ण-धर्म का वक्र रूप है, विकराल रूप है। जगत में भी आज जो कलह फैला हुआ है उसका मुख्य कारण भी ऊँच-नीच का यह भेद ही है। इस युद्ध का निवारण वर्ण-धर्म के पालन से हो सकता है।

१५. लेकिन, जहाँ तीन वर्ण अपने को उच्च मानकर शूद्र को नीच मानते है, वहाँ शूद्र उनकी ईर्ष्या करें और जो सम्पत्ति ये (उच्चवर्ण वाले) लेकर बैठ गये हैं, उसमें हिस्सा बँटाने की अगर इच्छा रखे तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। दुःख की भी नहीं है।

१६. आज रोटी-बेटी व्यवहार की मर्यादा में वर्ण-धर्म का पालन समझा जाता है। व्यवहारों में मर्यादा को, यानी खाद्याखाद्य-विवेक को उसी प्रकार बेटा-बेटी के लेन-देन में नियम को स्थान है जरूर, परन्तु इन दो के ऊपर वर्ण-धर्म अवलंबित नहीं है और इसे वर्णधर्म के साथ जोड़ देने से हिन्दूधर्म को बहुत नुकसान पहुँचा है।

१७. वर्ण और आज की जातियों के बीच जमीन-आसमान का अन्तर है। आज की जातियाँ और उप-जातियाँ लुप्त हुई वर्ण-व्यवस्था के खंडहर के समान हैं। उनके पीछे वर्ण-भेद के जैसा कोई व्यापक नियम नहीं है; बल्कि वह तो आकस्मिक कारणों से और रूढ़ी से उत्पन्न एक प्रथा है। वह वर्ण-व्यवस्था नहीं, बल्कि जातिबंधन है। इसमें हिन्दू-जाति का नुकसान है, और इस कारण उसका नाश करना चाहिए।

१८. शास्त्रों में चार वर्ण बताये गये हैं। पर यह चार ही होने चाहिएँ यह कोई वर्ण-धर्म का अनिवार्य अंग नहीं है। वर्ण-धर्म के पुनरुद्धार की विचारणा करते हुए शायद ऐसा मालूम हो कि वर्ण चार के बजाय कम या ज्यादा करने की जरूरत है।

: ३ :

आश्रम

१. आश्रम-व्यवस्था की उपत्ति भी प्रकृति के नियमों को व्यवस्थित रूप से व्यवहार में लाने के प्रयत्न में से हुई है।

२. सब वर्णों के लोगों को सब आश्रमों में प्रवेश करने का अधिकार है।

३. चारों आश्रम एक-दूसरे के साथ ऐसे संलग्न हैं कि एक के बिना दूसरे का पालन नहीं हो सकता।

४. ब्रह्मचर्याश्रम में तो मनुष्य का जन्म ही होता है। इस कारण इसी आश्रम को बिल्कुल अनिवार्य कह सकते हैं। इस आश्रम को कभी न छोड़ने का—अर्थात् यावज्जीवन ब्रह्मचर्य पालन करने का जो चाहे उसे अधिकार है। फिर भी कम-से-कम २५ वर्ष तक पुरुष को और १८ वर्ष तक स्त्री को पवित्रता-पूर्वक इस आश्रम में रहना चाहिए।

५. दूसरे समस्त आश्रमों की उज्ज्वलता का आधार इस आश्रम के पवित्र और संयत जीवन पर है। इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि से पहला आश्रम ही मुख्य आश्रम है। इस आश्रम के लोप हो

जाने से हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाज को बड़ी हानि पहुँची है। इस आश्रम को तेजपूर्ण बनाना प्रत्येक हिन्दू का परम कर्तव्य है। परन्तु इस आश्रम का पालन शायद ही कोई करता है।

६. गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत विवाह-धर्म का विचार दूसरे प्रकरण में किया जावेगा। धर्म-मार्ग के अनुसार राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ाने का विशेष भार इस आश्रम पर है।

७. यह ख़याल कि गृहस्थाश्रम तो भोग-विलास के लिए है, भ्रमपूर्ण है। हिन्दू-धर्म की सारी व्यवस्था ही संयम की पुष्टि के लिए है। इसका अर्थ यह हुआ कि भोग-विलास हिन्दू-धर्म में कभी अनिवार्य हो ही नहीं सकता। गृहस्थाश्रम में भी सादगी और संयम दूषण नहीं, बल्कि भूषण ही समझे गये हैं।

परन्तु, संयम के आदर्श का पोषण करते हुए भी, कितने ही मनुष्य भोगों के प्रति होनेवाले आकर्षण को रोक नहीं सकते। इसलिए गृहस्थाश्रम का धर्म उन भोगों की मर्यादा बता देता है और उनके सेवन की विधि भी।

८. फिर भी, आज सब लोग जिसका पालन करते हैं वह गृहस्थ 'वृत्ति' है—अर्थात् प्रजा-वृद्धि का कर्म है—गृहस्थ धर्म नहीं। इससे ज्यादातर स्वेच्छाचार व व्यभिचार को ही अधिक पोषण मिलता है।

९. व्यभिचारी या स्वेच्छाचारी जीवन के अन्त में वानप्रस्थ या संन्यास असंभव ही समझने चाहिएँ।

१०. गृहस्थ इन भोगों को क्रमशः कम करते हुए और उनके मोह को छोड़ने की शक्ति के प्राप्त होते ही वह (गृहस्थ दम्पती) फिर

ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करके अथवा उसे फिर सतेज करके,वानप्रस्थ बनते हैं। जिसने अभी अपने राग-द्वेष पर पूरा विजय नहीं प्राप्त कर लिया है, परन्तु जो इन्द्रियों को रोक सकता है और रोक कर बैठा है, कह सकते हैं कि वह वानप्रस्थ है। इस आश्रम का आज तो लोप ही हो गया है यह कह सकते हैं।

११. जिसने राग-द्वेष को पूरे तौर पर जीत लिया है, जो काया वाचा और मन तीनों से सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्यादि यमों का पालन करता है, कह सकते हैं कि वह संन्यासी हो गया है। ऐसा संन्यासी निष्काम भाव से सेवा कार्य करता हुआ अपने निर्वाह का आधार भिक्षा पर रखता है।

आश्रमों का बाहरी वेष-भूषा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

: ४ :

स्त्री-जाति

१. हिन्दू-समाज में स्त्री-जाति के प्रति जो तुच्छ भाव देखा जाता है वह एक दोष है, हिन्दू-धर्म का अङ्ग नहीं है। धार्मिक पुरुष भी इस तिरस्कार-भाव से मुक्त नहीं रह सके, यह इस दोष की गहराई को प्रकट करता है।

२. स्त्री और पुरुष में प्राकृतिक भेद भले ही हों, और इस कारण नित्य जीवन में उनके कर्तव्य भी भले ही भिन्न-भिन्न हों, फिर भी दोनों में न कोई ऊँचा है, न नीचा; बल्कि समाज के दोनों एक से महत्त्वपूर्ण और प्रतिष्ठा-पात्र अङ्ग हैं।

३ पुरुष एक ओर से स्त्री को दबाता है, अज्ञान में रखता है,

उसकी अवगणना और निन्दा करता है; और दूसरी ओर से उसे अपनी भोग-तृप्ति का साधन समझता है एवं इसी उद्देश्य से उसे अपनी इच्छा के अनुसार पुतली की तरह सजाता है, उसकी मिन्नत-खुशामद करता है और इस तरह उसकी भोग-वृत्ति को उत्तेजित करने का यत्न करता है। इन दोनों प्रकारों से अकेली स्त्री-जाति का नहीं, बल्कि अपना और सारे समाज का भी भारी अधःपात हो गया है।

४. जो माता-पिता पालन-पोषण और शिक्षण के विषय में लड़के और लड़की में भेद-भाव करते हैं और लड़की के प्रति अपना कर्त्तव्य कम समझते हैं वे पाप करते हैं।

५. वयःप्राप्त पुरुष को जितनी स्वतन्त्रता का अधिकार है उतना ही स्त्री को भी है।

६. स्त्री अबला नहीं है, बल्कि यदि अपनी शक्ति को पहचान ले तो पुरुष से भी अधिक सबला है। वह माता होकर जिस प्रकार बालक का जीवन बनाती है और पत्नी होकर जिस प्रकार पति को आगे चलाती है, अधिकांश में पुरुष उसी प्रकार के बनते हैं।

७. स्त्री-जाति में जो अपार शक्ति छिपी हुई है वह उसकी विद्वत्ता अथवा शरीर-बल के बदौलत नहीं, बल्कि उसके अन्दर रही हुई उसकी तीव्र श्रद्धा, भावना का वेग और अत्यन्त त्याग-शक्ति की बदौलत है। उसकी वृत्ति स्वभावतः ही कोमल और धार्मिक होती है और पुरुष जहाँ श्रद्धा खोकर ढीला पड़ जाता है अथवा हिसाब लगाने में चक्कर खाता रहता है तहाँ वह धीर बन-

कर क़दम बढ़ाती हुई तीर की तरह सीधी चली जाती है।

८. जगत् में धर्म की रक्षा स्त्री-जाति के ही बदौलत हुई है।

९. स्त्री-जाति यदि अपने बल और अपने कार्य-क्षेत्र की दिशा को ठीक-ठीक समझ ले तो वह कभी यह नहीं मान सकती कि वह पुरुष की दुर्बल है और पुरुष का तथा उसके कामों का अनुकरण करने का आदर्श अपने सामने न रक्खेगी। वह पुरुष को आकर्षित करने के लिए, अथवा रिझाने के लिए अपने शरीर को नहीं सजावेगी, बल्कि अपने हृदय के गुणों से ही अपने को सुशोभित करने का यत्न करेगी।

१०. स्त्री-जाति को सार्वजनिक कामों में पुरुष के बराबर ही योग देना चाहिए। मद्यपान-निषेध, पतित स्त्रियों का उद्धार आदि कितने ही ऐसे काम हैं जिन्हें स्त्री ही अधिक सफलता के साथ कर सकती हैं।

११. स्त्रियों को विवाह करना ही चाहिए यह मिथ्या भ्रम है। उन्हें भी जीवन-पर्यंत ब्रह्मचर्य पालने का अधिकार है।

१२. स्त्री अपनी इच्छा के विरुद्ध पति की काम-वासना को तृप्त करने के लिए बाध्य नहीं है। जो पति ऐसा करता है वह उतना ही दोषी है जितना कि एक व्यभिचारी होता है।

: ५ :

अस्पृश्यता

१. अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म का अंग नहीं है, बल्कि उसमें घुसा हुआ एक महान् दोष है, अन्धविश्वास है, पाप है, और उसको दूर करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है, परम कर्त्तव्य है।

२. अस्पृश्य माने जानेवाले लोग चार-वर्ण के अंग हैं।

३. जन्म के कारण से मानी गई इस अस्पृश्यता में अहिंसा-धर्म का तथा सर्व-भूतात्म-भाव का निषेध हो जाता है। इसके मूल में संयम नहीं, बल्कि उच्चपन की उद्धत भावना है। इस कारण यह स्पष्ट रूप से अधर्म ही है। इसने धर्म के बहाने लाखों या करोड़ों लोगों को गुलामों की हालत में डाल रक्खा है।

४. सार्वजनिक मेले, बाजार, दुकान, मदरसे, धर्मशाला, मन्दिर, कुएँ, रेल, मोटर आदि स्थानों में, जहाँ दूसरे हिन्दुओं को आजादी से जाने और उनसे लाभ उठाने का अधिकार है, वहाँ अस्पृश्यों को भी अवश्य अधिकार है। इन अधिकारों से उन्हें वञ्चित रखनेवाला व्यक्ति उनके साथ अन्याय करता है। जो लोग उनके इस अधिकार को मानते हैं वे उनपर मेहरबानी नहीं करते, बल्कि अपनी ही भूल का सुधार करते हैं।

५. सैकड़ों वर्षों के अमानुष व्यवहार और संस्कारवान वर्णों के संसर्ग से वञ्चित रहने के फल-स्वरूप अस्पृश्यों की स्थिति इस क़दर करुणाजनक होगई है, और वे इतने नीचे गिर गये हैं कि उन्हें दूसरे वर्णों की कोटि में चढ़ाने के लिए संस्कारवान हिन्दुओं को ख़ास तौर पर उद्योग करने की आवश्यकता है। इस कारण अस्पृश्य तथा दूसरी दलित या पिछड़ी जातियों की सेवा के लिए अपना जीवन अर्पण करना, इस कार्य में उदारता-पूर्वक सहायता करना, इस युग के प्रत्येक संस्कारवान् हिन्दू का अति पवित्र कर्म है।

६. इस दृष्टि से दलित जातियों के लिए ख़ास संस्थाओं और सुविधाओं की बहुत जरूरत है। परन्तु ऐसी ख़ास संस्थाओं और

सुविधाओं की व्यवस्था कर देने से उनका सार्वजनिक संस्थाओं और सुविधाओं से लाभ उठाने का अधिकार चला नहीं जाता है।

७. अछूतों की स्थिति सुधारने के लिए यह जरूरी नहीं है कि उनके परम्परागत पेशे उनसे छुड़वाये जायँ अथवा उनके प्रति उनके मन में अरुचि पैदा की जाय। इस उद्देश्य से उनके अन्दर काम करना उनकी सेवा नहीं, असेवा होगी। जब धुनकर धुनते रहें, चमार चमड़े को सुधारते रहें, और भंगी पाखाने साफ़ करते रहें और फिर भी वे अछूत न समझे जायँ तभी कह सकते हैं कि अस्पृश्यता दूर हुई।

८. भंगी समाज की गन्दगी को दूर करके उसे साफ़-सुथरा रखने का कर्तव्य नित्य करते हैं, यदि नियमित रूप से यह कार्य न होसके तो सारा समाज मरणासन्न दशा को पहुँच जाय। यह कहना यथार्थ नहीं है कि वे अपने पेशे के बदौलत इस प्रकार संस्कारहीन तथा निर्बल स्थिति को प्राप्त हुए हैं। इन पेशों को भी दूसरे पेशों के बराबर ही उच्च समझना उचित है। हाँ, दूसरे पेशों की तरह इसमें भी सुधार करने की गुञ्जायश बहुत है; परन्तु यह प्रश्न बिल्कुल अलग है। संस्कारवान हिन्दू इन पेशों को अपना कर उनमें बहुत सुधार कर सकते हैं।

९. अछूतों में जो मुर्दा-मांस खाने की प्रथा घुस गई है वह यह दिखलाती है कि उनकी दरिद्रता कितनी करुणाजनक है। उन की दरिद्रता दूर करने से और इस बुराई की हानि उन्हें समझाने से यह दूर हो सकती है।

१०. सिर्फ़ अपने आचार को ही अच्छा रखने से कोई

संस्कारवान् नहीं बन सकता । अपना व्यवहार ऐसा रखना कि जिससे दूसरों को अशुद्ध आचरण करने पर विवश होना पड़े यह भी अ-संस्कारिता की निशानी है । जो वर्ग अपने-को संस्कारवान मानते हैं वे अछूतों को अपनी जूठन खिलावें, बासी या उतरी हुई चीजें दें और अपने पशु से भी गया-बीता व्यवहार उनके साथ करें तो यह केवल अ-संस्कारिता ही नहीं, पाप भी है ।

: ६ :

खाद्याखाद्य-विवेक

१. मनुष्य सर्वभक्षी प्राणी नहीं है । उसके खाद्य-पदार्थों की एक मर्यादा है । परन्तु वर्ण-धर्म के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । इसमें छूत-छात रखना बुरा है ।

२. स्वच्छता इत्यादि के नियमों का पालन करते हुए और खाद्याखाद्य-विवेक से काम लेते हुए सब वर्णों के एक पंक्ति में बैठकर भोजन करने में कोई दोष नहीं है । किसी ख़ास वर्ण के हाथ से भोजन बनाया जाना बिल्कुल ज़रूरी नहीं है ।

३. रोटी-व्यवहार को जो महत्व आजकल दिया जाता है वह छुआछूत का पोषक ही है । संयम के बजाय उलटा वह भोग को उत्तेजन देनेवाला बन गया है ।

४. इस कारण देश, जाति, धर्म आदि भेदों की दृष्टि से किये गये चौका-भेद और पंक्ति-भेद धर्म का लक्षण नहीं है । ऐसे भेद-भावों से हिन्दू-धर्म को हानि पहुँची है ।

: ७ :

विवाह

१. विवाह होगया कि सब तरह के भोग-विलास करने की छुट्टी मिल गई, यह विचार पापमय है। स्त्री-पुरुषों का भोग एक ही उद्देश्य से धर्म-युक्त हो सकता है। वह है दोनों की सन्तानेच्छा। इस इच्छा को पूर्ण करने की शुद्ध विधि का नाम है विवाह।

२. विवाहेच्छु युवक-युवती अपने लिए वधू या वर को खुद पसन्द करें यह आमतौर पर इष्ट नहीं है। इसमें मानसिक व्यभिचार के प्रसंग बार-बार तथा कभी-कभी शारीरिक व्यभिचार के भी आ सकते हैं। फिर कम अनुभवी युवावस्था में तथा भोगेच्छा के आवेग में हुई पसन्दगी का विवेक और विचारपूर्वक होना कम सम्भव है।

३. इसलिए विवाहेच्छु को चाहिए कि वह अपनी इच्छा तथा विवाह-सम्बन्धी अपनी शर्तें (जैसेकि विधवा के साथ, जाति के बाहर, बिना रुपया लिए, वग़ैरा) अपने बुज़ुर्गों या बुज़ुर्गों जैसे मित्रोंको बतावें और उनसे अनुरोध करें कि वे उनके अनुसार वर या वधू तलाश कर दें।

४. बुज़ुर्गों को उचित है कि वे युवक-युवती के स्वभाव, गुण-दोष तथा विचारों पर ध्यान देकर उनके योग्य साथी की तलाश करें। दोनों को एक-दूसरे के गुण-दोषों से वाकिफ कर दें। दोनों के जीवन में कुछ ऐसी घटनायें हुई हों जिन्हें बताना ज़रूरी हो

तो वह भी बता दें। पसन्दगी में जो बात खास महत्व रखती हो वह छिपाई न जाय।

५. बुजुर्गों से सब बातें जानने के बाद यदि युवक-युवती को परस्पर मिलकर परिचय अथवा बातचीत करने की जरूरत मालूम हो तो मर्यादापूर्वक उन्हें ऐसा करने की सुविधा कर देनी चाहिए।

६. इसके फलस्वरूप यदि दोनों एक-दूसरे को पसन्द कर लें तो उनकी सगाई कर दी जाय। दो में से एक भी जबतक निश्चित या रजामन्द न हों तबतक सम्बन्ध न किया जाय। बल्कि बुजुर्गों को चाहिए कि वे दूसरे वर-वधू की तलाश करें।

७. सगाई होने के बाद और विवाह के पूर्व स्पर्श की उचित मर्यादा में रहकर ब्रह्मचर्य-पालन का आग्रह रखते हुए दोनों एक-दूसरे के साथ पत्र-व्यवहार रक्खें या मिलें-जुलें तो इसमें दोष नहीं। संयमी स्त्री-पुरुष इस अवधि में भी भावी वर या वधू के साथ भोग-विलास की बातें या कल्पनायें न करेंगे, बल्कि एक-दूसरे का उत्कर्ष साधनेवाली बातें ही करेंगे।

८. विवाह के बाद भी वे मानेंगे कि विवाह एक धर्म-कार्य है। धर्म में मर्यादा, विवेक आदि होते हैं। अतएव जो दम्पती मर्यादा और विवेकपूर्वक रहते हैं वे गृहस्थधर्म का पालन करते हैं और जो मर्यादा छोड़ देते हैं वे धर्मनिष्ठ नहीं, बल्कि स्वेच्छाचारी हैं।

९. सन्तति की इच्छा के बिना विवाह-सम्बन्ध न होना चाहिए। परन्तु विवाह के बाद यदि दोनों संयमपूर्वक रहना चाहें तो विवाह

को व्यर्थ समझने की जरूरत नहीं है। समाज में अनेक आवश्यक कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें स्त्री-पुरुष दोनों को मिलकर करना होता है। दोनों सहधर्मचारी बनकर अपने घनिष्ठ सम्बन्ध का उपयोग उन कर्मों में सेवा भाव से करें।

१०. प्रजोत्पादन की इच्छा के बिना प्रजोत्पादन की स्थिति या शक्ति दो में से किसी को न हो तब तथा एक-दूसरे की रजामन्दी के बिना यदि पति-पत्नी भोग करें तो उसे पाप समझना चाहिए।

: ८ :

सन्तति-नियमन

१. बिना विचारे सन्तान बढ़ाते रहना, या उसकी इच्छा करते रहना, जड़ता का चिह्न है।

२. आज सन्तति की बिना विचारे होनेवाली वृद्धि को रोकने की बहुत आवश्यकता है। परन्तु उसका धर्म-युक्त मार्ग एक ही है—ब्रह्मचर्य।

३. सन्तति-नियमन के कृत्रिम उपाय धर्म तथा नीति के विरुद्ध और परिणाम में विनाश की ओर ले जानेवाले हैं। इनसे समाज का हर तरह अधःपात होता है।

: ९ :

दम्पती में ब्रह्मचर्य

१. विवाहित स्त्री-पुरुष को ऋतु-गामी होना ही चाहिए, यह

खयाल ग़लत है । यह धारणा भी भ्रमपूर्ण है कि दो में से एक की इच्छा न हो तो भी दूसरे की भोगेच्छा तृप्त करना आवश्यक है ।

२. इस कारण, यदि दो में से किसी की इच्छा इतनी मन्द पड़ जाय कि वह अपने शरीर को क़ाबू में रख सके तो उसे ब्रह्मचर्य धारण करने का अधिकार है । इसके लिए वह अपने साथी का सहयोग तो चाहेगा, परन्तु स्वीकृति को आवश्यक न मानेगा ।

३. पति असम्मत हो तो स्त्री के ऐसे निर्णय से उसकी स्थिति के कठिन होने की संभावना अवश्य है । उस स्त्री ने यदि अपना धर्म स्पष्ट रूप से समझ लिया है तो वह सत्याग्रह के बल से इस कठिनाई को सह ले और जो दुःख आवे उसे भोग ले ।

४. पति के ऐसे निश्चय से भी, यदि स्त्री की भोगेच्छा प्रबल हो तो, उसकी स्थिति कठिन हो जाती है । क्योंकि दोनों स्थिति में क़ानून और लोकमत पत्नी के प्रतिकूल हैं । परन्तु जो पति इस तरह धर्म-भाव से ब्रह्मचर्य-व्रत स्वीकार करता है वह अपनी पत्नी का रास्ता सुगम बना देगा । वह ऐसे योग्य पुरुष की तलाश में उसकी सहायता करेगा जो क़ानून की परवा न करके अपने को उस स्त्री के साथ धर्म-विवाह से बँधा हुआ मानेगा और समाज तथा क़ानून की ओर से जो कठिनाइयाँ पैदा होंगी उन्हें सहन कर लेगा । इस तरह क़ानून में सुधार करने का रास्ता भी वह सुगम कर देगा । जबतक ऐसा पति न मिल सके तबतक वह उसे आदर-पूर्वक रक्खेगा ।

: १० :
विधवा-विवाह

१. हिन्दू विधवा त्याग और पवित्रता की मूर्ति है। वह माता की तरह सबके लिए पूजनीय है। उसे अशुभ समझने वाला हिन्दू-समाज महान् अपराध करता है। शुभ कार्यों में उसकी उपस्थिति और आशीर्वाद प्राप्त करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। पवित्र विधवा को समाज का भूषण समझकर उसकी मान-प्रतिष्ठा की रक्षा करनी चाहिए।

२. परन्तु स्त्री-जाति के प्रति जो तुच्छ भाव हिन्दू-समाज में प्रचलित है उसने विधवा के साथ अन्याय करने में कोई कसर नहीं रक्खी है। इस कारण हिन्दू विधवा की स्थिति अछूतों की तरह ही दयाजनक होगई है।

३. विधवा त्याग-मूर्ति है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उससे जबरदस्ती वैधव्य पालन कराया जाय। बल-पूर्वक कराया गया त्याग उसकी दिव्यता को नष्ट कर देता है और उसे पूजनीय तथा आदर्श बनाने के बदले उलटा दयापात्र बना देता है।

४. इस कारण एक विधुर को जितना अधिकार पुनर्विवाह करने का माना गया है उतना ही विधवा को भी है।

५. बाल-विधवा बाल-विवाह का परिणाम है। १५-१६ वर्ष से पहले कन्या का विवाह कदापि न होना चाहिए। ऐसे विवाह के फल-स्वरूप प्राप्त वैधव्य वैधव्य नहीं है। ऐसी विधवा को कुँवारी कन्या समझकर माँ-बाप को उसके विवाह करने की उतनी ही

चिन्ता करनी चाहिए जितनी कि वह कुँवारी कन्या की करते हैं और उसका विवाह कर देना चाहिए।

६. हिन्दू-युवकों से यह सिफारिश करने जैसी है कि वह बाल-विधवा से ही शादी करने का आग्रह रक्खें। युवक विधुर को तो विधवा से ही विवाह करना अपना धर्म समझना चाहिए।

: ११ :

वर्णान्तर-विवाह

१. बेटी-व्यवहार के विषय में संयम, सुख और वर्ण (अर्थात् धंधे की विरासत) को रखने की दृष्टि से, अपने ही वर्ण में विवाह करने की मर्यादा होना साधारणतः इष्ट है। परन्तु आज तो वर्ण-व्यवस्था छिन्न-भिन्न होगई है। इसलिए स्वधर्मियों में ही गुण-कर्म के अनुसार विवाह संबन्ध करना उचित है। ऐसा वर्णान्तर-विवाह निर्दोष है।

२. परदेशी या परधर्मी के साथ विवाह करने में धर्म का प्रतिबन्ध नहीं है। परन्तु उनमें अनेक विघ्न आने की सम्भावना है। इसलिए ऐसे सम्बन्ध अपवाद-रूप होना ही ठीक है और उनमें भी हेतु पारमार्थिक होना चाहिए।

खण्ड ४ :: सत्याग्रह

: १ :

कर्त्तव्य रूप सत्याग्रह

१. दूसरे खण्ड के तीसरे प्रकरण में सत्याग्रह का दिग्दर्शन कराया गया है, पाठकों को चाहिए कि यहाँ उसे एक बार फिर पढ़ लें।

२. व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध कुछ इस प्रकार का है कि उसमें व्यक्ति की प्रगति अपने समाज की साधारण धर्म-प्रगति से बहुत अधिक नहीं हो सकती। भूतकाल के किसी महापुरुष की तुलना में यदि आज का महापुरुष धर्म-विचार या धर्म-साधना के किसी विषय में आगे बढ़ जाता है तो इसका बहुत-कुछ कारण यही हो सकता है कि उस महापुरुष के समय के समाज की अपेक्षा आज का समाज उस तरह के धर्म-विचार और धर्म-साधना में आगे बढ़ा हुआ है। हम आशा रख सकते हैं कि इसी तरह समाज में उत्तरोत्तर धर्म की शुद्धि होती रहेगी।

३. इस कारण कोई व्यक्ति यदि अपने चारों ओर प्रचलित अधर्म की ओर से आँख मूँद रक्खेगा तो वह अपनी अतिशय आध्यात्मिक उन्नति न कर सकेगा।

४. इस प्रकार व्यक्ति के लिए यदि अपने अन्दर ही सत्य-अहिंसादिक धर्मों की सिद्धि करनी हो तो भी अपने समाज में प्रचलित अधर्म का विरोध करना कर्तव्य हो जाता है।

५. जिस अंश तक खुद उसके अन्दर सत्यादि गुणों का उत्कर्ष हुआ होगा, और जिस अंशतक उसे अधर्म के विष का स्पष्ट रूप से अनुभव हुआ होगा, उसी अंश तक उसका विरोध करना वह अपना कर्तव्य समझेगा और उसमें अपना सारा बल लगावेगा।

: २ :

सत्याग्रही की मर्यादा

१. सत्याग्रह-तत्व का शास्त्र अभी परिपक्व नहीं हुआ है। इसका प्रयोग अभी बाल्यावस्था में है और इसका प्रयोग करनेवाला, इसके सामर्थ्य को शोधनेवाला और आजमानेवाला कोई पूर्ण शास्त्री अभीतक दृष्टि में नहीं है।

२. इसलिए कोई यह आशा न रक्खें कि इसमें सब प्रकार के अधर्मों, अन्यायों, कलहों आदि के निवारण करने के तैयार नुसखे मिल जायँगे। बल्कि सत्याग्रही यह श्रद्धा रक्खे कि सत्य और अहिंसा में ये शक्तियाँ अवश्य ही हैं। उनकी खोज में वह यत्नशील रहे।

३. इस बीच अनेक प्रकार के अधर्मों, अन्यायों, कलहों आदि के निवारण में इसकी असमर्थता देखकर न तो उसे निराश होना चाहिए, न निष्क्रिय ही बनना चाहिए।

४. जिन अधर्मों को दूर करने के लिए वह सत्याग्रही मार्ग न तलाश कर सकेगा उनके हिंसात्मक उपाय काम में लाये जाते रहेंगे। सत्याग्रही यदि उन उपायों का केवल निषेध करे, या अपना शारीरिक अथवा आर्थिक सहयोग न देकर तटस्थ रहे तो इससे उस हिंसा-सम्बन्धी उसकी जिम्मेदारी कम नहीं होजाती। वह उसी अवस्था में उस जिम्मेदारी से मुक्त समझा जा सकता है जब उसकी अहिंसात्मक योजना सुझावे और उसे सफल कर बतावे।

५. इसका यह अर्थ नहीं कि सत्याग्रही का महज़ निषेध करना या तटस्थ रहना हमेशा ही गलत समझा जाय। बहुत बार इतना ही और यही कर्तव्य हो सकता है।

६. परन्तु ऐसे भी अवसर आ सकते हैं जब सत्याग्रही को हिंसा में कुछ-न-कुछ भाग भी लेना पड़े ; जैसे अपराधी को सज़ा कराना, जब लड़ाई छिड़े तब अपने राज्य की सहायता करना, आदि। जिस राज्य में वह रहता है और जिससे वह रक्षण प्राप्त करता है उसे यदि वह अहिंसा का मार्ग न दिखा सके तो हिंसा का महज़ विरोध या असहयोग करने से वह हिंसा की जिम्मेवारी से बच नहीं सकता।

७. लेकिन ऐसी मदद करते हुए भी वह अपनी सहायता की रीति-नीति में अपनी सारी सत्यनिष्ठा और अहिंसा-वृत्ति का परि-

चय देता है और अहिंसात्मक मार्ग खोजने का प्रयत्न करता है।

: ३ :

सत्याग्रह का बुनियादी सिद्धान्त

१. मनुष्य कितना ही स्वार्थान्ध क्यों न होजाय, और कितने ही कुटिल एवं घातक उपायों से काम लेने की उसकी तैयारी हो, फिर भी उसके अन्तस्तल में यह प्रतीति रहती है कि सत्य ही सर्वोपरि है और इसलिए उसके प्रति आदर और भय अवश्य बना रहता है। मनुष्य-मात्र के हृदय में स्थित सत्य-विषयक ऐसा गुप्त निश्चय, आदर और भय, यह सत्याग्रह-शास्त्र की बुनियाद है। इसीको मनुष्य हृदय-स्थ 'अन्तःकरण की आवाज' कह सकते हैं।

२. स्वार्थ के वशीभूत मनुष्य कुछ समय तक इस अन्तःकरण की आवाज को न सुनने का अथवा उसे दबा देने का प्रयत्न करता है। परन्तु उसका विरोधी यदि सच्चा सत्याग्रही साबित हो तो अन्त में उस आवाज को सुने बिना उसका छुटकारा ही नहीं है।

३. यह आवाज अनेक प्रकार से उसके सामने प्रकट होती है। अपने अन्याय का क़ायल होजाना और उसके लिए पश्चात्ताप करना उसका श्रेष्ठ प्रकार है। इसीको 'हृदय-परिवर्तन' कहते हैं।

४. परन्तु यह आवाज इससे भी कम बल के साथ उठ सकती है—जैसे, लोक-लज्जा के रूप में, अथवा सर्वनाश के भय के रूप में।

५. जब सत्याग्रही का विरोधी कोई एक व्यक्ति नहीं, बल्कि एक राष्ट्र, समाज या तन्त्र हो तब यह अन्तर्नाद वहाँ के किसी

अधिक चारित्र्यशील व्यक्ति को सुनाई पड़ता है और सबसे पहले उसका हृदय-परिवर्तन होता है। वह शख्स फिर अपने अन्य लोगों को वह आवाज सुनाता है और सत्य का पक्ष लेकर उनका विरोध भी करता है।

६. विरोधी के हृदय को 'अन्तःकरण की आवाज़' के प्रति जाग्रत करना प्रत्येक सत्याग्रही का साध्य है। अन्याय को दूर करने के लिए जिन-जिन बातों के करने की ज़रूरत है वे सब आगे चल कर, इस साध्य में से अपने-आप पैदा होती रहती हैं।

: ४ :

सत्याग्रह के सामान्य लक्षण

१. अधर्म का विरोध सत्य-अहिंसादि साधनों से ही किया जा सकता है, यह सामान्य नियम सर्वत्र लागू समझना चाहिए।

२. जो सत्याग्रही इस श्रद्धा से कि अधर्म को मिटाने का धर्म-युक्त उपाय अवश्य होना चाहिए, उत्कटता के साथ विचार करेगा उसे विरोध करने की उचित पद्धति अवश्य मालूम होती जायगी।

३. सत्याग्रह एक ऐसा उपाय है जिसमें सत्याग्रही को ही कष्ट उठाना होता है, विरोधी पक्ष को कष्ट देने की मंशा नहीं होती। इस कारण यदि सत्याग्रही के निर्णय में भूल हुई तो सम्भव है उससे सत्याग्रही को अधिक कष्ट सहना पड़े।

४. इसलिए सत्याग्रह के फल-स्वरूप विरोधी के साथ कटुता नहीं बढ़ती बल्कि घटती है, और सत्याग्रह के अन्त में दोनों पक्ष मित्र बन जाते हैं।

५. सत्याग्रही तबतक अधर्म के विरोध में कुछ करने की जल्दी नहीं करेगा जबतक उसे सत्याग्रह की उचित विधि न सूझ पड़ेगी; बल्कि शान्ति और धीरज के साथ ईश्वर से प्रार्थना और जनता की दूसरी सेवायें करता रहेगा एवं यह विश्वास रक्खेगा कि इसी तरीक़े से एक-न-एक दिन मुझे स्पष्ट रास्ता दिखाई पड़ जायगा, और उस समय उसके अनुसार आचरण करने का बल भी उसमें आ जायगा। अथवा ईश्वर ही अपनी अनेकविध शक्तियों के द्वारा उसका कोई रास्ता निकाल देगा।

६. सत्याग्रह-शस्त्र का अवलम्बन सत्याग्रहियों का संघ-बल नहीं है। हाँ, संघ-बल उसकी शक्ति को बढ़ा जरूर सकता है। सच्चे और ग़लत सत्याग्रह को परखने की यह एक कुञ्जी है। अकेला रह जाने पर जो सत्याग्रही अपने निश्चय पर डटा न रहे उसे सच्चा सत्याग्रही नहीं कह सकते। सच्चे सत्याग्रही का लक्षण ही यह है कि जो पथ उसे स्पष्ट दीखता है उसपर चलने के लिए वह अकेला भी तैयार होजाता है।

७. परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि जो अकेला सत्याग्रह करने के लिए तैयार हो जाता है वह हमेशा ही सच्चा होता है। परन्तु यदि सच्चा न हो तो उसकी भूल का फल उसीको भुगतना पड़ेगा।

८. सत्याग्रही झूठी प्रतिष्ठा को नहीं मानता। अपनी विचार-पद्धति में या योजना में कहीं भूल मालूम होने पर वह तुरन्त रुक जाने में—कितना ही आगे बढ़ गया हो तो भी, 'पीछे हटने' जैसा प्रतीत होता हो तो भी ठहर जाने में—अपनी भूल को स्वीकार

करने में तथा उससे होनेवाली हानि को धीरज से सहन करने अथवा उसके लिए उचित प्रायश्चित्त करने में वह बिल्कुल न हिचकेगा। क्योंकि सत्याग्रही दूसरे किसी भी विचार या कारण को सत्य से कम महत्वपूर्ण समझता है। इससे उसका इष्टकार्य बिगड़ता नहीं बल्कि सुधरता है और पीछे से यह साबित होता है कि जो उसकी 'पीछे हट' दिखाई देती थी, वह वास्तव में 'आगे बढ़' थी।

: ५ :

सत्याग्रह के प्रसंग

(नीचे लिखे नियमों को सिर्फ दिशा-सूचक ही समझना चाहिए)

१. सत्याग्रही अपने साथ होनेवाले निजी अन्याय के लिए झट से सत्याग्रह न कर बैठेगा। आमतौर पर वह ऐसे अन्यायों को सह लेगा; परन्तु सहन करते हुए भी विरोधी को प्रेम से जीतने की कोशिश करेगा। पर यदि अपने साथ होनेवाले उस अन्याय की जड़ में कोई सामाजिक अहित भी हो तो उसी दशा में वह साधारणतः सत्याग्रह के द्वारा उसका विरोध करेगा।

२. इसी तरह व्यक्ति-द्वारा होनेवाले तथा समाज या सत्ताधारी की ओर से होनेवाले अन्यायों में भेद करने की आवश्यकता सत्याग्रही के लिए होती है। इस अपूर्ण मानव-समाज में बलवान व्यक्ति के द्वारा निर्बल का पीड़न थोड़ा-बहुत होता ही रहेगा। ऐसे हरेक झगड़े में सत्याग्रही का पड़ना संभवनीय नहीं है। ऐसी अवस्था में उसे अपने सामर्थ्य, मर्यादा, अन्याय का प्रकार, उसका

तात्कालिक महत्व, न्याय प्राप्त करने के सर्वमान्य और विधि-विहित साधन आदि का विचार करना होगा। फिर भी जहाँ स्पष्ट आवश्यकता प्रतीत हो वहाँ अपना प्राण देकर भी वह अन्याय को रोकने का प्रयत्न करेगा।

३. सामाजिक और राजनैतिक अन्यायों में भी भेद करने की आवश्यकता रहती है। एक अधर्म या अन्याय तो ऐसा होता है कि जिसमें क़ानून तो अधर्म या अन्याययुक्त नहीं होता, परन्तु उसका अमल अधर्म और अन्यायपूर्ण होता है और अन्यायकर्त्ता उसे क़ानून की ओट में छिपाता है, अथवा क़ानून को अपना हथियार बनाता है। इसमें उसे न्याय या धर्म का स्वाँग बनाना पड़ता है। इस अपूर्ण मानव-समाज में ऐसी घटनायें भी होती रहेंगी। ज्यों-ज्यों मानव-समाज में सद्गुणों की और परस्पर समभाव की आमतौर पर वृद्धि होगी त्यों-त्यों इस स्थिति में सुधार होगा। ऐसे प्रसंग पर न्याय और धर्म का जो ढोंग करना पड़ता है वह मानों उस अन्यायकर्त्ता की ओर से सत्य को चढ़ाई श्रद्धाञ्जलि है—ऐसा मानकर सन्तोष करना पड़ता है। फिर भी यदि ऐसा पाखण्ड चारों ओर फैल जाय तो उसके लिए सत्याग्रह का प्रसंग और मार्ग मिल जाता है; जैसेकि जहाँ सर्वत्र दमन का ज़ोर हो वहाँ अपना बचाव न करना और उसके बदले जो सज़ा मिले उसे भुगत लेना, यह स्वतन्त्र रूप से, सत्याग्रह की एक विधि हो सकती है।

४. परन्तु जो अन्याय या अधर्म बिल्कुल बेहयाई से—इस भाव से कि तुमसे जो-कुछ हो सके कर लो—होता हो, अथवा

उसीको न्याय, धर्म या क़ानून का नाम दिया जाता हो, तो ऐसी दशा में सत्याग्रह कर्त्तव्य-रूप हो जाता है। क्योंकि ऐसे अधर्म और अन्याय को सहन कर लेनेवाले की सत्वहानि होती है।

: ६ :

सत्याग्रह के प्रकार

१. सत्याग्रह कितने प्रकार का हो सकता है, यह गिनकर नहीं बताया जा सकता। अधर्म का स्वरूप, उसकी तीव्रता, अधर्माचारी व्यक्ति या समाज की खासियतें, उसका और अपना सम्बन्ध अपने तथा जिसका पक्ष हमने लिया है उसके जीवन में से उस अधर्म को मिटा डालने के लिए प्राप्त सिद्धि—इन सब बातों पर सत्याग्रह की पद्धति, प्रकार और मात्रा का अधार रहता है।

२. फिर भी साधारणतः यह कहा जा सकता है कि अपने कुटुम्ब में अन्याय-कर्त्ता के साथ जिन-जिन पद्धतियों का अवलम्बन किया जाता है वे सब उचित रूप में समाज पर भी लागू पड़ती हैं।

३. इस प्रकार इसमें, समझाने-बुझाने से लेकर, उपवास, असहयोग, सविनय-भंग, उस कुटुम्ब, राज्य, समाज आदि का त्याग, अपने न्याय्य अधिकार का शान्ति के साथ अमल, और ये सब करते हुए जो कुछ संकट आ जावें उन्हें प्रसन्नता से सहन करना—आदि अनेक प्रकार हो जाते हैं।

४. इनमें से उचित उपाय और उसकी उचित मात्रा के चुनाव में विवेक या तारतम्य बुद्धि से काम लेना चाहिए। यों तो यह

अनुभव से ही आ सकता है; फिर भी कितनी ही उपयोगी सूचनायें अगले प्रकरणों में दे दी जाती हैं।

५. परन्तु याद रखना चाहिए कि अभी सत्याग्रह की सभी शक्तियों का पता नहीं लगा है। जो तपस्वी मनसा वाचा-कर्मणा सत्य और अहिंसा का पालन करता हुआ इसकी शक्तियों का पता लगाता रहेगा उसे इसके नये-नये प्रकार सूझते जायँगे और उसका बल अटूट प्रतीत होगा।

६. सत्याग्रह में युद्ध को रोकने का सामर्थ्य अवश्य होना चाहिए। इस शक्ति का बाह्य स्वरूप कैसा होगा यह आज कहना कठिन है। परन्तु इसका अर्थ इतना ही है कि अधिक श्रद्धा रखकर इसकी शक्तियों का पता लगाना चाहिए।

: ७ :

समझाना-बुझाना

१. विरोधी को समझा-बुझाकर सामोपचार से काम लेने का प्रयत्न करना सत्याग्रही का पहला लक्षण और सत्याग्रह की पहली सीढ़ी है।

२. इसलिए समझाने-बुझाने के एक भी उपाय को वह बाकी न रक्खेगा। इसमें अपने धीरज और उदारता की पराकाष्ठा कर देगा। जो मित्र बीच में पड़कर मध्यस्थता करेंगे उनकी वह अवहेलना न करेगा; और यदि सिद्धान्त का भङ्ग न होता हो तो वह छूट-छाट करने के लिए तैयार रहेगा।

३. समझाने-बुझाने का यत्न जब असफल होजाय और कोई

विशेप उपाय करने की आवश्यकता हो तो वह विरोधी को अन्तिम मौक़ा दिये बिना आगे न बढ़ेगा।

४. आगे क़दम बढ़ा चुकने पर भी वह समझौते के लिए सदा तैयार रहेगा और, धोखा खा जाने की जोखिम उठाकर भी, वह अपनी समझौता-प्रियता का परिचय देगा और फिर से 'हरि ॐ' करने की तैयारी दिखावेगा। क्योंकि सत्याग्रही चाहे कितना ही असहयोगी और विरोधी बन जाय, ज़ोर की लड़ाई लड़ रहा हो, फिर भी वह अपने रग-रग में व्याप्त सहयोग, मित्रता और सुलह की इच्छा को छोड़ न देगा।

५. जबतक विरोधी के अन्तर में ऐसी आवाज़ न उठे जिससे उसका हृदय-परिवर्तन हो, तबतक, कुछ अन्यायों के दूर हो जाने पर भी, यह नहीं कह सकते कि दिल साफ़ हो गया और सत्याग्रह का कार्य पूरा हो गया।

६. इस कारण, इस स्थिति से पहले जितने कुछ समझौते हों उनमें सत्याग्रही को अपनी कुछ बातें छोड़ देनी पड़ती हैं, और कुछ अन्याय पी जाने पड़ते हैं। पर सच पूछिए तो, ऐसा करते हुए सत्याग्रही, मूल अन्याय के विपय को छोड़े बिना, उसे दूर कराते हुए, विरोधी की ओर से होनेवाले अन्यायों के प्रति अपनी उदारता दिखाता है।

: ८ :

उपवास

१. उपवास का उपयोग सत्याग्रह के साधन के तौर पर करने में अक्सर बहुत जल्दी और भूलें हो जाती हैं।

२. किसी व्यक्ति के प्रति किये गये सत्याग्रह में उपवास जिस अंश तक किया जा सकता है उस अंश तक समाज अथवा तंत्र के प्रति नहीं।

३. व्यक्ति के प्रति भी उपवास-रूपी सत्याग्रह बहुत विवश होने पर ही करना चाहिए। संभव है कि उपवास के विरोधी की न्याय या धर्म-भावना ही जाग्रत न हो। बल्कि महज कृपा-भाव जगे अर्थात् वह यह ख़याल करके कि 'चलो पिण्ड छुड़ाओ, कौन आफ़त मोल ले' सत्याग्रही की 'ज़िद' पूरी कर दे। पर इसे सत्याग्रह नहीं कह सकते।

४. व्यक्ति के प्रति किये गये सत्याग्रह में, यदि उसके साथ कोई निजी अथवा मित्रता का सम्बन्ध न हो, तो उपवास के उपाय से काम लेना उचित नहीं है।

५. आम तौर पर यह कह सकते हैं कि उपवास-रूपी सत्याग्रह कुटुम्बी, निजी मित्र, गुरु, शिष्य, गुरुभाई आदि निजी परिचित लोगों के प्रति ही किया जा सकता है। इसी प्रकार यदि समाज हमारा हो, और हमसे उसकी सेवाएँ हुई हों और इससे हम उसके आदर-पात्र होगये हों, तो उसके अन्याय के प्रति भी उपवास-रूपी सत्याग्रह किया जा सकता है।

६. व्यक्ति के प्रति सत्याग्रह में, निजी अन्याय के कारण तो, कभी उपवास न करना चाहिए। वह व्यक्ति यदि हमारे साथ मित्रता का दावा रखता हो, और किसी तीसरे व्यक्ति या वर्ग के या ख़ुद अपने प्रति कोई अनुचित व्यवहार उससे होता हो तो, दूसरे उपायों का अवलम्बन कर चुकने के बाद, उपवास किया जा सकता है।

७. किसी तंत्र के प्रति किये गये सत्याग्रह में उपवास अन्तिम शस्त्र है। जब सत्याग्रही पराधीन स्थिति में हो, और सत्याग्रह के दूसरे उपायों का रास्ता बंद हो, तथा तंत्र-द्वारा होनेवाला अन्याय इतना कष्टकर हो कि उस अधर्म या अन्याय को सहन करके जीना सत्वहीन या कायर बनकर जीनें जैसा हो तब प्राण छोड़ देने की तैयारी से वह अनशन शुरू कर सकता है।

८. इस बात का निर्णय करने में कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है या नहीं, उसे उचित है कि वह बहुत भावुकता से काम न ले। बल्कि उस तंत्र के संचालकों की कठिनाइयों का, उनकी पुरानी आदतों का, भी उचित विचार करे और उनके लिए काफ़ी गुँजा-यश रक्खें। फिर अनिवार्य और आकस्मिक अन्याय और जान-बूझकर किये गये अन्याय अथवा अन्याययुक्त नियमों में भी वह भेद करे। फिर इसमें भी निजी अन्यायों को वह दिल कड़ा करके सहन कर लेगा। क्योंकि मनुष्य जब जान-बूझकर अन्याय को सहन करता है तब उसकी सत्वहानि नहीं होती। परन्तु जब दीनता, भय अथवा जीवन के लोभ से वह अन्याय को सहता है तभी उसकी सत्वहानि होती है।

६. अपने, मित्रों के अथवा साथियों के दोषों के प्रायश्चित्त के रूप में, अथवा मित्र या साथियों को उनकी शुद्ध प्रतिज्ञा पर दृढ़ रखने के लिए, उपवास करना इस प्रकरण के अर्थ में सत्याग्रह नहीं, बल्कि तपश्चर्या है। विवेक-पूर्वक की गई ऐसी तपश्चर्या के लिए जीवन में स्थान है। परन्तु उसकी चर्चा यहाँ प्रस्तुत नहीं है।

: ६ :

असहयोग

१. जहाँ पहले दोनों पक्षों में सहयोग होता चला आया हो वहीं असहयोग रूपी सत्याग्रह उपयोग में लाया जा सकता है।

२. इसमें जहाँ विपक्षी का काम असहयोगी की सहायता के बिना भी चल सकता है वहाँ असहयोग का अर्थ सिर्फ दूसरे पक्ष का त्याग अथवा अपनी शुद्धि इतना ही हो सकता है। इसके लिए भी सत्याग्रह में जगह है। जैसेकि मालिक को दूसरे नौकर मिल सकते हैं, फिर भी जो नौकर उसके अधर्म में हाथ बटाने की इच्छा न रखता हो वह अपना इस्तीफा दे दे अथवा दूसरे लोग शराब की दूकान चलाने को तैयार बैठे हों फिर भी कोई शराब का दूकानदार अपना पेशा छोड़ दे, तो यह पूर्वोक्त प्रकार का असहयोग हुआ। इस प्रकार जो कुटुम्बी, मित्र इत्यादि हठ करके अधर्म करते हों उनका त्याग भी ऐसा ही सत्याग्रह है।

३. जहाँ ऐसी स्थिति हो कि हमारी मदद के बिना दूसरे पक्ष का व्यवहार चल ही नहीं सकता वहाँ असहयोग को बहुत उग्र सत्याग्रह कहना चाहिए। इस कारण, उसे आरम्भ करने के पहले, सत्याग्रही को देख लेना चाहिए कि स्पष्ट रूप से यह मेरा धर्म हो गया है या नहीं। इसमें सत्याग्रही इस बात को कभी नहीं भूलता कि विपक्षी का काम मेरे बिना नहीं चल सकता है और इस वस्तु-स्थिति में उसे अपना बल दिखाई देता है। इस कारण यह आशंका रहती है कि इसका उपयोग विपक्षी को सताने के लिए भी होजाय।

४. जब यह प्रतीत हो कि विपक्षी तो हमारे सहयोग का बिल्कुल दुरुपयोग ही कर रहा है और उसके द्वारा निर्दोषों को पीड़ा पहुँच रही है, तभी ऐसा असहयोग उचित और आवश्यक समझा जा सकता है।

५. असहयोगी विरोधी के उन तमाम कामों में से अपनी सहायता हटा लेगा जो उसकी प्रत्यक्ष सहायता के बिना नहीं चल सकते। जहाँ प्रत्यक्ष सहायता न मिलती हो, परन्तु ऐसी स्थिति हो कि जिससे विरोधी को महत्व मिलता हो, अथवा उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती हो तो ऐसी सहायता भी वह हटा लेगा और इस-लिए उससे होनेवाले लाभों को भी वह छोड़ देगा।

६. विरोधी अपना तन्त्र सत्याग्रही पक्ष की सहायता के बिना नहीं चला सकता, ऐसा अनुभव कराना असहयोग का लक्ष्य है। इसलिए यह असहयोग—निश्चय ही सत्य-अहिंसादि साधनों के द्वारा—इतना तीव्र किया जा सकता है कि जिससे वह तन्त्र बन्द पड़ जाय।

७. यह तो अनुभव से ही जाना जा सकता है कि इस असह-योग का आचरण किस क्रम से और कितनी तीव्रता से करना चाहिए। परन्तु असहयोगी को यह प्रतीति अवश्य हो जाना चाहिए कि विरोधी का कृत्य अथवा तन्त्र इतना पुष्ट है कि उसकी जगह दूसरा तन्त्र जल्दी न खड़ा किया जा सके तो भी मौजूदा तन्त्र का उच्छेद कर देना उचित है।

८. असहयोग के दुरुपयोग होने की बहुत सम्भावना है—इसलिए सत्याग्रही और अ-सत्याग्रही असहयोग में चिन्तापूर्वक

भेद करने की आवश्यकता है। सत्याग्रह में तो कष्ट अवश्य ही सहन करना पड़ता है। इसलिए, यदि असहयोग करनेवाले को कुछ भी कष्ट या हानि न सहनी पड़ती हो तो उस असहयोग के सत्याग्रही न होने की बहुत सम्भावना है।

: १० :

सविनय-भंग

१. सविनय-भंग दो तरह का हो सकता है—किसी खास अन्याय-युक्त हुक्म या क़ानून का अथवा उसी हुक्म या क़ानून को रद कराने के लिए, और असहयोग के ही विशेष अंग के रूप में बिना अन्याय, अधर्म किये निर्दोष या तटस्थ लोगों को अनुचित असुविधा किये बग़ैर तोड़े जा सकनेवाले तमाम क़ानूनों का।

२. मनुष्य जो चोरी नहीं करता है सो इसी विचार से नहीं कि राज्य ने चोरी की मनाही की है बल्कि यह समझकर कि वह अधर्म है। इस कारण सविनय-भंग में ऐसे क़ानून नहीं तोड़े जा सकते।

३. गाड़ी ग़लत बाजू से न ले जाओ, रास्तों पर तैनात पुलिस की आज्ञा मानो, रात को देर तक शोर-गुल न मचाओ, महत्त्व-पूर्ण कारण हुए बग़ैर रेल की जंजीर न खींचो, वग़ैरा हुक्मों को न मानने से निर्दोष तथा तटस्थ लोगों को अनुचित असुविधा होती है, इसलिए ऐसे हुक्मों का भी भंग नहीं किया जा सकता।

४. परन्तु यदि कोई राज्य के प्रति असन्तोष न प्रकट करता हो तो इसके दो ही कारण हो सकते हैं—(१) राज्य के प्रति उसके

मन में सन्तोष हो, और, इस कारण, उसके प्रति उसकी भक्ति हो, अथवा, (२) क़ानून से डर कर। परन्तु सत्याग्रही क़ानून से डर कर सरकार के प्रति असन्तोष प्रदर्शित करने में नहीं हिच-केगा, और जहाँ सविनय भंग की आवश्यकता उपस्थित हो जाय वहाँ ऐसे क़ानूनों का तोड़ना उसका कर्त्तव्य भी हो सकता है।

५. उसी प्रकार एक मर्यादा में रहकर, अपने देश के किसी भी हिस्से में जाने और रहने का तथा शान्तिपूर्ण जलूस, सभा, मेले, जन-सेवा के कार्य, अनुचित कार्यों पर धरना देना आदि करने और कराने का जनता को आमतौर पर अधिकार होता है; इन हक़ों पर यदि सरकार की ओर से प्रतिबन्ध लगाया जाय तो सत्याग्रही उस आज्ञा को तभी मान सकता है जब (१) सरकार द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों के कारण उसे वाजिब मालूम हो अथवा (२) ऐसे हुक्म को तोड़ने से, सरकार और लोगों के असली झगड़े के मूल विषय एक ओर रह जाते हों और दूसरे छोटे और अनावश्यक विषय महत्व प्राप्त कर लेते हों एवं जनता का ध्यान असली विषय की तरफ़ से हट जावे और इन छोटी-छोटी बातों पर ही जम जाने की संभावना हो। जहाँ ऐसे कारण न हों वहाँ ऐसे हुक्मों का सविनय-भंग-रूपी सत्याग्रह किया जा सकता है।

६. इसी तरह सत्याग्रही सरकार को जो कर देता है सो इसी लिए कि वह उस राज्य को क़ायम रखना इष्ट समझता है। परन्तु यदि उसे यह निश्चय हो जाय कि इस राज्य-तन्त्र का नाश करना ही मेरा धर्म है तो वह राज्य को कर देने के क़ानूनों को भी तोड़

सकता है; परन्तु उसके साथ ही राज्य की ओर से मिलनेवाले किसी भी लाभ को वह चाह कर प्रयत्न-पूर्वक प्राप्त न करेगा।

७. जहाँ प्रजा-सत्तात्मक शासन-पद्धति हो अथवा सरकार और जनता में सामान्यतः सहयोग हो रहा हो, अथवा कोई तीव्र संग्राम न हो रहा हो, उस दशा में भी, बाज-बाज अधिकारियों द्वारा, ग़लतफ़हमी से अथवा हुकूमत के जोर में, अन्यायपूर्ण आज्ञायें निकलने की सम्भावना रहती है। ऐसे फुटकर अन्यायी हुक्मों को हमेशा सविनय-भंग का विषय बनाना उचित नहीं है। यह न मान लेना चाहिए कि ऐसे अन्यायों को पी जाने से हानि ही होती है। इसके विपरीत ऐसे समय लोग तथा नेतागण जो धीरज और उदारता दिखाते हैं उससे जनता को खासी तालीम मिलती है और इस प्रकार भय से नहीं, परन्तु जान-बूझ कर, जो अन्यायों को सहन करना और आज्ञा का पालन करना जानते हैं वही, प्रसंग आने पर, सविनय-भंग भी अच्छी तरह कर सकते हैं।

८. कभी-कभी सविनय-भंग का आन्दोलन ऐसा स्वरूप ग्रहण कर लेता है जिससे विरोधी के अथवा तटस्थ लोगों के जानोमाल को हानि पहुँचती है और वे अनुचित रूप से सताये जाते हैं। ऐसी अवस्था में जब सत्याग्रही यह अनुभव करे कि वह इस बुराई को रोकने में असमर्थ है तो आन्दोलन को रोक देगा और अपनी सारी ताक़त उस हानि और त्रास को रोकने में लगा देगा।

: ११ :

सत्याग्रही का अदालत में व्यवहार

१. जिस सत्याग्रही ने क़ानून के सविनय-भंग करने का संकल्प कर लिया है उसके फल-स्वरूप मिलनेवाली पूरी सज़ा को भोगने के लिए वह तैयार ही रहता है।

२. इस कारण जब उसपर यह इल्ज़ाम लगाया जाय कि तुमने फलां क़ानून तोड़ा है और राज्य के अधिकारी उसे पकड़ने आवें तब वह बिना आनाकानी के गिरफ़्तार हो जाय।

३. यह भी हो सकता है कि सत्याग्रही ने क़ानून बिल्कुल तोड़ा ही न हो, फिर भी यह दिखाया जाय कि क़ानून तोड़ा है और झूठा सबूत पेश किया जाय। जहाँ ऐसा हो वहाँ सत्याग्रही को चाहिए कि अदालत के किसी काम में भाग न ले और न अपनी सफ़ाई पेश करे। और चूंकि उसका विचार तो उस क़ानून को तोड़ने का था ही इसलिए बिना तोड़े ही जो सज़ा उसे मिल रही हो उसका वह स्वागत ही करेगा।

४. यदि उसने स्वयं क़ानून तोड़ा हो तो वह अपना अपराध स्वीकार कर ले और सज़ा माँग ले।

५. सफ़ाई न देने में नीचे लिखे अपवाद हैं—

(अ) यदि ऐसे अपराध का इलज़ाम लगाया जाय जो, सत्याग्रह-सिद्धान्त के विरुद्ध होने के कारण, करना तो दूर, उसका इरादा तक न किया हो, तो सत्य के ख़ातिर वह अपनी सफ़ाई पेश करे—जैसे कि ख़ून करने के इल्ज़ाम में।

(आ) सत्याग्रहियों अथवा अधिकारियों के व्यवहार या नीति के सम्बन्ध में कोई ऐसी बात पैदा हो गई हो कि वह सिद्धान्त का या सार्वजनिक महत्व का विषय बन गया हो, और उसमें सत्य प्रकट करने की आवश्यकता प्रतीत होती हो तो वहाँ सफ़ाई दी जा सकती है—जैसे, इस बात की तहक़ीक़ात करके कि पुलिस ने अत्याचार किया है, सत्याग्रही ने इस बात को प्रकाशित किया हो, परन्तु इस आरोप को झूठा बताकर झूठी बात प्रकाशित करने का अभियोग उसपर लगाया गया हो तो उस अवस्था में; अथवा, सत्याग्रही लोगों को मार-काट और खून-खराबी के लिए उत्तेजना देते हैं, ऐसा इल्जाम लगाया जाय तब।

(इ) अधिकारियों ने अति उत्साह से या भ्रम से ऐसे हुक्म निकाले हों जिनकी अपेक्षा सरकार को न रही हो, अथवा जिन क़ानूनों की रू से वे निकाले गये हों वे उतनी सत्ता अधिकारियों को न देते हों, और उनके फल-स्वरूप उन साधारण लोगों के भी बड़ी दिक्क़त में पड़ने की संभावना हो, जिनका इरादा सत्याग्रह करने का न हो तो वहाँ सफ़ाई पेश करने की आवश्यकता पैदा हो सकती है।

६. सत्याग्रही अदालत के काम में भाग न ले—इसका अर्थ यह नहीं कि वह अदालत में तुच्छता का या अविनय का व्यवहार करे अथवा असत्याचरण करे। इसलिए उसे किसी अधिकारी का न अपमान करना चाहिए, न उपहास और न उसे तुच्छता-दर्शक उत्तर देने चाहिए। फिर वह अपना नाम-ठाम न छिपावे;

परन्तु यदि अधिकारी ऐसी बातें पूछे जिनका उस मामले से कोई सम्बन्ध नहीं है, अथवा उनका सम्बन्ध दूसरे व्यक्तियों से है तो सत्याग्रही उनका उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं है और ऐसे जवाब देने से वह विनय-पूर्वक इनकार कर सकता है।

७. जबतक सत्याग्रही पुलिस की हिरासत में हो तबतक पुलिस का यह फर्ज है कि उसे नहाने-धोने, खाने-पीने, तथा वकीलों और मित्रों से मिलने की सुविधा दे और उसके प्रति सभ्यता का व्यवहार करे। उसी प्रकार सत्याग्रही का भी कर्त्तव्य है कि वह पुलिस के प्रति शिष्टता रक्खे। यदि पुलिस की ओर से असुविधा, या कष्ट दिया जाता हो अथवा असभ्यता या मारपीट का व्यवहार किया जाय तो सत्याग्रही को चाहिए कि वह इसकी इत्तिला बाला अफ़-सर को (यदि वहाँ तक पहुँच सके) दे और यदि यह सम्भव न हो, अथवा वह ध्यान न दे तो मजिस्ट्रेट से शिकायत करे। यदि मजिस्ट्रेट भी उसपर ग़ौर न करे तो मान लेना चाहिए कि ये तकलीफें सरकार की प्रेरणा या सम्मति से दी जा रही हैं और अपने सलाहकार आदि को उसकी खबर करके खामोश हो रहना चाहिए।

८. सत्याग्रही को यदि जुर्माने की सजा दी जाय तो वह जुर्माना न दे, और न किसी को जुर्माने की रक़म जमा करा देने की प्रेरणा करे, बल्कि यह समझावे कि न जमा कराना उनका धर्म है और उसके एवज में क़ैद की सजा भुगत ले।

९. जुर्माना वसूल करने के लिए उसके घर यदि जब्ती ले जाई जाय तो वह अपना माल-असबाब जब्त हो जाने दे और इस तरह अधिक हानि होती हो तो भी उसे सहले; परन्तु खुद

जुर्माना अदा न करे। क्योंकि जिसने अपनी सत्वरक्षा के लिए क़ानून तोड़ा है वह तो अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए तैयार रहेगा। इस कारण ख़ुद-ब-ख़ुद ज़ुर्माना अदा करके वह अपनी स्वत्व-हानि न होने देगा।

१०. सत्याग्रही ऊँचा वर्ग प्राप्त करने का यत्न न करे। क्योंकि इस वर्गीकरण के नियमों के मूल में कुछ अंश तक सत्याग्रहियों और मामूली .कैदियों में, तथा सत्याग्रहियों में परस्पर भेद-भाव डालने, ईर्ष्या पैदा करने, तथा भय और लालच देने का भाव है। फिर उसका अमल भी बहुत बार मनमाने तौर पर और नीचे के वर्ग में उतारकर अधिक सजा देने के लिए किया जाता है। इस कारण वर्गीकरण की यह नीति ही सदोष है। फिर भी सत्याग्रही को जो वर्ग मिला हो उसकी सुविधा यदि वह पाता है तो यह नहीं कह सकते कि उसमें सत्य का भंग होता ही है।

: १२ :

सत्याग्रही का जेल में व्यवहार

१. सत्याग्रही जेल में भी अपनी सभ्यता और विनय को कभी न छोड़े।

२. जेल के नियमों का भंग करने की नहीं, बल्कि पालन करने की वृत्ति से वह जेल में अपने जीवन की नीति साधारणतः रक्खे और जहाँ महत्त्व के सिद्धान्त का या स्वाभिमान का प्रश्न हो वहीं नियम के खिलाफ जाने की प्रवृत्ति रक्खे। इस कारण वह जेल में कोई वस्तु चोरी से न लावे, किसी को घूस न दे, तथा नियम के

बाहर किसी प्रकार की सुविधा प्राप्त करने के लिए किसी की खुशामद न करें।

३. श्रम करना जेल का ही नियम नहीं, बल्कि कुदरत का धर्म और नियम है। इस कारण जेल के नियम के अनुसार जो काम दिया जाय उसे मंजूर करने में तथा करने में सत्याग्रही कभी जी न चुरावेगा।

४. यदि काम या काम का समय ऐसा हो कि जो अस्वास्थ्य अथवा दूसरे कारण से न किया जा सकता हो तो उसकी ओर अधिकारी का ध्यान विनय-पूर्वक दिलावे। इतने पर भी यदि वही काम दिया जाय तो उसे करने का प्रयत्न करे और ऐसा करते हुए जो-कुछ कष्ट हो उसे सह ले।

५. जब डाक्टर शरीर देखे तब अपने सब रोग सच-सच बता देना चाहिए। यदि कोई छूत की बीमारी हो तो उसे छिपाना उचित नहीं है।

६. अपने धर्म या नियम के विपरीत दवा या दूसरा इलाज कराने के लिए कैदी बाध्य नहीं है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वह किसी दूसरी दवा या इलाज का मतालबा अधिकार-पूर्वक कर सकता है। टीका लगाने जैसे कुछ इलाजों से इनकार करने पर वह दण्ड का पात्र समझा जा सकता है। सो जिस कैदी के लिए यह बात सचमुच इतने धार्मिक आग्रह की होगी, वह सजा भुगत लेगा। परन्तु उसकी तैयारी सजा भुगत लेने की है, महज इसीलिए वह किसी बात को गलत तरीके से धार्मिक स्वरूप देकर आग्रही न बने।

७. अपने अस्वास्थ्य के सम्बन्ध में जो-कुछ शिकायत हो, अथवा सुविधा दरकार हो उसकी सूचना योग्य अधिकारी को दे। परन्तु यदि वह कुछ ध्यान न दे तो उसे भी वह यह समझ कर शान्ति के साथ सहन करे कि यह भी सत्याग्रह-सम्बन्धी ही एक कष्ट है। परन्तु लुका-छिपाकर ऐसी सुविधायें प्राप्त करके स्वास्थ्य-रक्षा का प्रयत्न न करे। ऐसा करने में अधिकारी यही समझेगा कि इसकी मांग अनुचित थी।

८. यदि कोई ऐसे व्रत-नियमादि हों, जिनका पालन जेल में भी अवश्य करना चाहिए, तो उनके लिए भी योग्य अधिकारी से कहकर आवश्यक सुविधा माँग सकता है। परन्तु जेल के खर्चे से ही उसके पालन करने का आग्रह न करे। इसलिए यदि अपने खर्चे पर भी ऐसी छूट मिल जाय तो इतने पर उसे सन्तुष्ट रहना चाहिए। और यदि सुविधा न मिले तो व्रत-नियमादि का पालन करने के लिए जो कष्ट भुगतना पड़े, वह भुगत लेना चाहिए।

९. सत्याग्रही को चाहिए कि वह महज जेल-जीवन में पालने के लिए कोई व्रत-नियम आदि न धारण करे।

१०. क़ैदी पर यह फ़र्ज नहीं है कि वह गाली, मार या जूठा, गन्दा, कच्चा, सड़ा हुआ या जीव-जन्तु-मिला भोजन खावे। इसलिए उसे ऐसी बातें न सहन करना चाहिए। मारपीट या गाली सम्बन्धी शिकायत की सुनवाई न हो तो अधिक मार गाली आदि सजा की जोखिम उठाकर भी उस काम से इन्कार कर सकता है और आवश्यकता पड़ने पर उपवास भी कर सकता है।

११. भोजन यदि न खाने लायक हो तो उससे इन्कार कर दे और उसके लिए जो-कुछ सजा मिले उसे भुगत ले।

१२. सत्याग्रही अपने या अपने ही वर्ग के क़ैदियों के लिए जेल-व्यवहार में सुधार या सुविधा कराने को सत्याग्रह न करे—हाँ, यदि वह अन्याय सिर्फ़ उसके या उसके वर्ग के ही साथ किया जाता हो तो बात दूसरी है। परन्तु सत्याग्रह वह उसी अवस्था में करे जब सारी जेल-व्यवस्था में ही सुधार की आवश्यकता हो और उसके लिए आवश्यक कारण और परिस्थिति पैदा हो गई हो।

१३. सत्याग्रही यदि इस प्रकार व्यवहार करे कि जिससे जेल-व्यवस्था अच्छी तरह चल सके तो ऐसा सहयोग सत्याग्रह-सिद्धान्त के विपरीत नहीं है और इसलिए इस प्रकार की जेल-अधिकारियों की सहायता करना सत्याग्रही का धर्म है। परन्तु सत्याग्रही जेल के वार्डर या वॉचमैन आदि अधिकारों को ग्रहण न करे।

१४. छूट के दिन बढ़ाने के लिए सत्याग्रही उत्सुकता न दिखावे।

१५. स्वराज्य के लिए किये गये सत्याग्रह का उद्देश्य है सारी राज्य-व्यवस्था को ही जड़ से बदल देना। इसलिए सत्याग्रही को जेल में कोई ऐसी लड़ाई न करनी चाहिए जिससे जेल-तंत्र का सुधार लड़ाई का एक स्वतंत्र विषय बन जाय। परन्तु वहीं लड़े जहाँ असभ्य अमानुष व्यवहार या नियम देखा जाय।

: १३ :

सत्याग्रही की नियमावली

गांधीजी के शब्दों में ही सत्याग्रह की नियमावली यहाँ दे देने से इस खण्ड की अच्छी पूर्ति और उपसंहार भी हो जाता है—

१. सत्याग्रह का अर्थ है सत्य का आग्रह। इस आग्रह से मनुष्य को अतुल बल मिलता है। इस बल को हम सत्याग्रह के नाम से पहचानते हैं।

२. सत्य का आग्रह यदि सच्चा हो तो माता-पिता, स्त्री-पुत्र, राजा-प्रजा और अन्त को सारे जगत् के खिलाफ उसे चलाना पड़ सकता है।

३. ऐसा व्यापक आग्रह करते हुए स्वजन या परजन, बालक या वृद्ध, स्त्री या पुरुष यह भेद नहीं रहता। इस कारण किसी के खिलाफ शरीर-बल का उपयोग नहीं किया जा सकता। तो अब जो बल बाकी रहा—अहिंसा का—प्रेम का ही हो सकता है। इस बल का दूसरा नाम है आत्मबल।

४. प्रेम का बल दूसरे को नहीं सताता, अपने आपको ही सताता है। इसलिए सत्याग्रही में मरणपर्यन्त हँसते-हँसते कष्ट सहन करने का सामर्थ्य होना चाहिए।

५. इससे यह स्पष्ट है कि प्रतिपक्षी का अत्यन्त विरोध करते हुए भी सत्याग्रही मन वचन कर्म से प्रतिपक्ष के किसी भी व्यक्ति का अहित न चाहता है, न करता है। इस विचार श्रेणी में से असहयोग, सविनय-भंग इत्यादि उत्पन्न हुए हैं।

६. सत्याग्रह की यह उत्पत्ति जो याद रक्खेंगे वे नीचे लिखे नियम आसानी से समझ सकेंगे—

(अ) सत्याग्रही किसी पर गुस्सा नहीं करेगा।

(आ) वह विरोधी का गुस्सा सहन कर लेगा।

(इ) गुस्सा सहन करते हुए वह विरोधी की मार तो खा लेगा, बदले में उसके साथ मारपीट भी नहीं करेगा; परन्तु गुस्से में दिये उसके उचित या अनुचित हुक्म के, मार या दूसरे डर से, अधीन कभी नहीं होगा।

(ई) सिपाही पकड़ने आवें तो वह आसानी से गिरफ़्तार हो जायगा। संपत्ति जब्त करने आवे तो वह भी आसानी से करने देगा।

(उ) परन्तु यदि दूसरे की मिल्कियत उसके संरक्षण में होगी तो उसका क़ब्ज़ा मरते तक वह नहीं छोड़ेगा, फिर भी क़ब्ज़ा करनेवाले पर हाथ नहीं उठायेगा।

(ऊ) न मारने में गाली भी न देना शामिल है।

(ए) इस कारण सत्याग्रही विरोधियों का अपमान नहीं करेगा।

(ऐ) आजकल कितने ही हिंसक नारे प्रचलित होगए हैं। सत्याग्रही के लिए वे सर्वथा त्याज्य हैं।

(ओ) सत्याग्रही ब्रिटेन के झण्डे को सलामी न देगा और साथ ही न उसका अपमान करेगा। किसी भी अधिकारी या अंग्रेज का अपमान वह नहीं करेगा।

(औ) लड़ाई के सिलसिले में किसी अंग्रेज का या किसी राज्याधिकारी का कोई अपमान करे या उनपर हमला करे तो

सत्याग्रही अपनी जान को जोखम में डालकर भी उसकी रक्षा करेगा।

जेल-सम्बन्धी

(अं) जेल में सत्याग्रही इन तमाम नियमों का पालन करेगा जो आत्म-सम्मान के विरुद्ध न हों और अधिकारी के साथ सभ्यता से बरतेगा। मसलन वह अधिकारियों से मामूली तौर पर सलाम करेगा परन्तु नाक रगड़ने के लिए कहा जायगा तो वह नहीं रगड़ेगा। 'सरकार की जय' नहीं कहेगा। जेल का स्वच्छ भोजन जिसमें कोई धार्मिक बाधा न हो वह लेगा। सड़ा हुआ, कूड़ा-कंकर मिला हुआ, मैले बर्तन में परोसा हुआ या अपमान-पूर्वक दिया हुआ खाना वह नहीं लेगा।

(अः) सत्याग्रही खूनी क़ैदी में और अपने में भेद नहीं मानेगा। इसलिए वह अपने को ऊंचा मानकर या बतलाकर अपने लिए विशेष सुविधा नहीं माँगेगा। हाँ, शरीर और आत्मा के लिहाज़ से जरूरी सुविधा माँगने का उसे अधिकार है।

(क) ऐसी सुविधायें जो आत्म-सम्मान के विरुद्ध न हों न मिलने से सत्याग्रही उपवास आदि न करे।

दल-सम्बन्धी

(ख) अपनी टुकड़ी के नायक के तमाम आदेशों का पालन सत्याग्रही खुशी से करेगा। फिर चाहे वे आदेश पसन्द हों या न हों।

(ग) आदेश अपमानजनक हो, द्वेष या मूर्खतापूर्ण मालूम होता हो तो भी पहले उसका पालन करके फिर जो ऊपरी अफ़सर हो

उससे शिकायत करना चाहिए। दल में शामिल होने से पहले शामिल होने की शर्तों पर विचार करने का अधिकार सत्याग्रही को है। परन्तु एक बार शामिल होने के बाद फिर उसके कड़ुवे-मीठे नियम और उनका पालन उसके लिए धर्मरूप हो जाता है। दल के समस्त व्यवहार में यदि अनीति मालूम हो तो सत्याग्रही उससे अलग हो सकता है। परन्तु उसमें रहकर नियम-भंग करने का अधिकार उसे नहीं है।

(घ) सत्याग्रही को किसी से अपने आश्रितों के लिए भरण-पोषण की आशा न रखनी चाहिए। यदि कहीं से किसी का कुछ प्रबन्ध हो जाय तो उसे अनपेक्षित बात समझना चाहिए। सत्याग्रही तो अपने को और अपने आश्रितों को ईश्वर के भरोसे पर छोड़ देता है। शरीर-बल के युद्ध में भी जहाँ लाखों लोग लड़ते हैं, किसी पर आधार नहीं रखा जा सकता। फिर सत्याग्रही को युद्ध का पूछना ही क्या? सार्वभौम अनुभव यह बताता है कि ऐसों को ईश्वर भी भूखों नहीं मरने देता।

साम्प्रदायिक झगड़ों में

(ङ) साम्प्रदायिक लड़ाई-झगड़ों का कारण सत्याग्रही जान-बूझ कर हरगिज न बने। यदि साम्प्रदायिक झगड़ा हो जाय तो सत्याग्रही किसी की तरफ़दारी न करे। जिधर इन्साफ देखे उसकी मदद करेगा। यदि वह हिन्दू होगा तो मुसलमान इत्यादि जाति के प्रति उदारता रखेगा। और हिन्दुओं के आक्रमणों से उन्हें बचवाते हुए अपने प्राण तक दे देगा। परन्तु उस आक्रमण में शरीक न होगा।

(च) जिन प्रसंगों से साम्प्रदायिक झगड़े उत्पन्न हो सकते हैं उनसे सत्याग्रही अपने को भरसक बचावेगा।

(छ) सत्याग्रही को यदि जुलूस निकालना पड़े तो वह ऐसा कोई काम न करेगा जिससे किसी भी जाति का दिल दुखे। वह ऐसे किसी जुलूस वगैरा में शरीक न होगा जो दूसरों का दिल दुखे, इस तरह से किसी ने निकाले हों।

: १४ :

सत्याग्रही की शर्तें

[हाल ही गांधीजी ने एक लेख में सत्याग्रही की योग्यता के सम्बन्ध में ७ शर्तें गिनाई हैं। वे ज्यों-की-त्यों यहाँ दी जाती हैं— अनुवादक]

१. सत्याग्रही की ईश्वर में सजीव श्रद्धा होनी चाहिए; क्योंकि ईश्वर ही उसका दृढ़ आधार है।

२. वह सत्य और अहिंसा को अपना धर्म मानता हो और इसलिए उसे मनुष्य-स्वभाव की सुप्त सात्त्विकता में विश्वास होना चाहिए। अपनी तपश्चर्या के रूप में प्रदर्शित सत्य और प्रेम के द्वारा वह मनुष्य की इस सात्विकता को जाग्रत करना चाहता है।

३. वह चरित्रवान् हो अपने लक्ष्य के लिए जानोमाल क़ुरबान करने के लिए तैयार हो।

४. वह आदतन् खादीधारी हो और कातता भी हो। भारतवर्ष के लिए यह अनिवार्य है।

५. वह निर्व्यसनी हो जिससे कि उसका मन व बुद्धि स्वच्छ रहे।

६. अनुशासन के नियमों को मानने के लिए तत्पर हो।

७. जेल के नियमों को, जो निश्चित रूप से आत्म-सम्मान को भंग करने के लिए न बनाये गये हों, मानता हो।

खण्ड ५ :: स्वराज्य

: १ :

राम-राज्य

१. राम-राज्य स्वराज्य का आदर्श है। इसका अर्थ है धर्म का राज्य, अथवा न्याय और प्रेम का राज्य।

२. उसमें एक ओर तो अगणित सम्पत्ति और दूसरी ओर करुणा-जनक फ़ाकेकशी नहीं हो सकती; उसमें कोई भूखा नहीं मर सकता, उसका आधार पशु-बल न होगा; बल्कि लोगों की प्रीति और सहयोग पर, जो कि सोच-समझ कर और बिना डरे दिया होगा, अवलम्बित रहेगा।

३. राम-राज्य में बहुमति या बड़ी जाति, अल्पमति या छोटी जाति को दबाती न होगी; बल्कि अल्पमति को भी बहुमति के ही बराबर स्वतन्त्रता होगी और बड़ी जाति अपना फ़र्ज़ समझेगी कि छोटी जातियों के हित की रक्षा करे।

४. राम-राज्य करोड़ों का और करोड़ों के सुख के लिए होगा।

उसके विधान में जो मुख्य अधिकारी होगा, वह चाहे राजा कहा जाय या अध्यक्ष अथवा और कुछ, प्रजा का सच्चा सेवक होने के कारण उस पद पर होगा। प्रजा की प्रीति से वहाँ रहेगा और उसके कल्याण के लिए ही सदा प्रयत्न करता रहेगा। वह लोगों के धन पर आमोद-प्रमोद न करेगा और अधिकार-बल से लोगों को न सतावेगा; परन्तु राजा या उसके जैसा कहलाते हुए भी एक फ़क़ीर की तरह रहेगा।

५. राम-राज्य का अर्थ है कम-से-कम नियन्त्रण। उसमें लोग अपना बहुतेरा व्यवहार आपस में ही मिल-जुलकर अपने आप चला लिया करेंगे। उसमें ऐसी स्थिति प्रायः न होगी कि क़ानून बना-बना करके अधिकारियों द्वारा दण्ड-भय से उनका पालन कराया जाय। उसमें सुधार करने के लिए लोग धारा-सभा या अधिकारियों की राह देखते बैठे न रहेंगे। बल्कि लोगों ने जिन सुधारों को रूढ़ कर दिया होगा उनके अनुकूल धारा-सभायें खुद ही ऐसे क़ानूनों में सुधार करने और अधिकारीगण उनका अमल कराने की व्यवस्था करेंगे।

६. राम-राज्य में खेती का धन्धा तरक्क़ी पर होगा; और दूसरे तमाम धन्धे उसके सहारे क़ायम रहेंगे। अन्न और वस्त्र के विषय में लोग स्वाधीन होंगे और गाय-बैल की हालत भी बहुत अच्छी होगी, जिससे आदर्श गो-रक्षा की व्यवस्था होगी।

७. राम-राज्य में सब धर्म, सब वर्ण और सब वर्ग समान-भाव से, मिल-जुलकर, रहेंगे और धार्मिक झगड़े या क्षुद्र स्पर्धा, अथवा विरोधी स्वार्थ-जैसी कोई वस्तु न होगी।

८. राम-राज्य में स्त्रियों का दरजा पुरुषों के ही बराबर होगा।

९. रामराज्य में कोई,सम्पत्ति या आलस्य के कारण निरुद्यमी न होगा; मिहनत करते हुए भी कोई भूखा न मरेगा; किसी को भी उद्यम के अभाव में मजबूरन् आलसी न बने रहना पड़ेगा।

१०. रामराज्य में आन्तरिक कलह न होगा; और न विदेशों के साथ ही लड़ाई होगी। उसमें दूसरे देशों को लूटने की, जीतने की या व्यापार-धन्धे अथवा नीति को नाश करनेवाली राजनीति अस्वीकृत होगी। दूसरे राष्ट्रों के साथ उसका मित्र-भाव होगा।

११. इस कारण राम-राज्य में सैनिक खर्च कम-से-कम होगा।

१२. राम-राज्य में लोग केवल लिख-पढ़ सकनेवाले ही न होंगे, बल्कि सच्चे अर्थ में शिक्षा पाये हुए होंगे—अर्थात् उन्हें ऐसी शिक्षा मिलती रहेगी जो मुक्ति देनेवाली और मुक्ति में स्थिर रखने वाली हो।

१३. राम-राज्य किसी एक देश या राष्ट्र के उत्तम राज्य का आदर्श नहीं है, बल्कि सारी दुनिया के लिए एक आदर्श है। यदि एक जगह भी राम-राज्य स्थापित हो जाय तो उसकी छूत सारी दुनिया में फैले बिना न रहेगी।

१४. जब ऐसी स्थिति पैदा हो जायगी तब भिन्न-भिन्न राज्यों में झगड़े का कारण ही बाकी न रहेगा अर्थात् युद्ध-जैसी चीज ही नहीं रह सकेगी। तमाम मतभेद, झगड़े, विरोध सब अहिंसक मार्ग से ही निबट जाया करेंगे।

['अहिंसक स्वराज्य' नामक गांधीजी के एक लेख के नीचे लिखे विचार भी आवश्यक होने से यहाँ दे दिये जाते हैं—अनुवादक]

१५. रामराज्य का ही दूसरा नाम है, अहिंसक स्वराज्य या जनता का स्वराज्य।

१६. अहिंसक स्वराज्य में लोगों को अपने अधिकार जानने की भी जरूरत नहीं होती, बल्कि अपना धर्म जानने और उसका पालन करने की जरूरत अवश्य होती है। क्योंकि कोई कर्त्तव्य ऐसा नहीं है जिसके पीछे कोई-न-कोई अधिकार न हो और वास्तविक हक़ अथवा अधिकर वही हैं जो धर्म के पालन से पैदा होता है।

१७. जो सेवा-धर्म का पालन करता है उसीको नागरिकता के असली अधिकार मिलते हैं और वही उनकी रक्षा कर सकता है।

१८. झूठ न बोलने से अर्थात् सत्य का पालन करने से और मारपीट न करने अर्थात् अहिंसा-धर्म का पालन करने से जो प्रतिष्ठा मिलती है वह हमें बहुत से अधिकार दिला देती है और ऐसे मनुष्य अपने अधिकारों का उपयोग परमार्थ के लिए करते हैं, स्वार्थ के लिए कदापि नहीं।

१९. जनता के स्वराज्य का अर्थ है—प्रत्येक व्यक्ति के स्वराज्य में से उत्पन्न जनसत्तात्मक राज्य। ऐसा राज्य केवल प्रत्येक व्यक्ति के एक नागरिक की हैसियत से अपने धर्म का पालन करने के फलस्वरूप ही निर्माण होता है।

२०. इस स्वराज्य में किसी को अपने अधिकार का ख़याल जैसी कोई बात नहीं होती। जिस समय अधिकार की कोई

आवश्यकता होती है वह उसके पास अपने-आप दौड़ आता है।

: २ :

तन्त्र-सुधार और विधान-सुधार

१. तंत्र-सुधार और विधान-सुधार ये दोनों प्रश्न एक ही नहीं हैं।

२. तंत्र-सुधार का अर्थ है—सत्ताधीशों की प्रजा के प्रति मनोवृत्ति में आमूल सुधार।

३. विधान के सुधार में क़ानून बनाने के लिए, और राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों का निरीक्षण करने के लिए, अथवा उसकी नीति निश्चित करने के लिए कितने लोगों के इकट्ठा होने की ज़रूरत है, उनकी नियुक्ति किस तरह होनी चाहिए, कहाँ बैठकर उन्हें चर्चा करनी चाहिए, आदि बातों का विचार किया जाता है।

४. आजकल शासन-विधान के प्रश्न को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया जाता है, और इस कारण असली विषयों को भूलकर हम राज्य के बाह्य रंग-रूप के विचार के फेर में पड़ जाते हैं।

५. शासन-विधान की बारीकियों तथा उसकी भिन्न-भिन्न योजनाओं के सूक्ष्म भेदों और उनके महत्व को समझने की आशा देश के करोड़ों लोगों से नहीं रक्खी जा सकती। इसलिए इन विषयों के विचार करने में वे खुद दिल-चस्पी नहीं ले सकते।

६. देश के करोड़ों अपढ़ ग्राम-वासियों के लिए इन बातों का महत्व समझना कठिन है कि देश का शासन-विधान राजसत्ताक कहलाता है कि प्रजासत्ताक, साम्राज्य का अंग कहलाता है कि

स्वतंत्र, छः हज़ार प्रतिनिधियों द्वारा राज-काज चलता है कि छः सौ के द्वारा, इसमें हिन्दू अधिक हैं कि मुसलमान; और इन बातों की बहस में पड़ने से उन्हें बहुत लाभ भी नहीं प्रतीत होता।

७. उनके लिए तो महत्व की बात यह है कि उनके गाँव का मुखिया, पटवारी या गिर्दावर उनके पास हुकूमत का जोर चलाते हुए, उन्हें धौंस दिखाते हुए, घूस माँगते हुए आते हैं या उनके मित्र, सलाहकार और संकट के साथी बनकर रहते हैं, वे अपने को जिधर चाहें उधर लोगों को झोंकने वाले, छोटे या बड़े सत्ताधीश समझते हैं या जनता के सेवक मानते हैं ?

८. फिर सर्व-साधारण के लिए महत्व का प्रश्न यह है कि उनके सिर पर क़र्ज़ का बोझ भारी है या हलका है, उनसे कर कितना, किस रूप में और किस तरह वसूल किया जाता है और उसका उपयोग किन-किन बातों में होता है ?

९. ऐसे सुधार महज़ विधान में खास-खास परिवर्तन कर देने से नहीं हो जाते, बल्कि जिनपर उसके अमल की जिम्मेदारी आती है उनकी धर्म-बुद्धि और जनता की उस पुरुषार्थ-शक्ति से होते हैं, जिससे वह अपने मत को प्रभावकारी बना सकती है। शासन-विधान का बाह्य-स्वरूप चाहे कैसा ही हो, यदि अधिकारी धर्म-बुद्धि और प्रजा-सेवक हो, और प्रजा पुरुषार्थी हो तो सरकार की तरफ से अधिक समय तक अन्याय, जुल्म आदि नहीं रह सकते।

: ३ :

राष्ट्रीय एकता

१. जबतक देश की भिन्न-भिन्न जातियों में एकता-मेल-स्थापित नहीं की जा सकती तबतक स्वराज्य प्राप्त करना और उसे टिका रखना असंभव है।

२. इस एकता को सिद्ध करने के लिए सब जातियों में आजादी के साथ रोटी-बेटी व्यवहार होना ही चाहिए, अथवा उनके भिन्न-भिन्न धर्मों और संस्कृतियों के भेद मिट जाने चाहिएँ, और किसी एक ही धर्म का आधार न रखनेवाली संस्कृति निर्माण होनी चाहिए, यह न तो आवश्यक ही है और न अभीष्ट ही। प्रत्येक जाति को चाहिए कि वह अपनी-अपनी विशेषता को क़ायम रखकर एकता सिद्ध करे।

३. परन्तु इस एकता को सिद्ध करने के लिए बड़ी जातियों को उचित है कि वे छोटी जातियों को अभय का आश्वासन दें। बड़ी जातियों को चाहिए कि वे छोटी जातियों को इस बात का विश्वास दिलादें कि बड़ी जातियों का रुख और बिरुद इस प्रकार का होगा कि उनके धर्म, भाषा, साहित्य, जाति-नियम, रस्म-रिवाज, शिक्षा, अर्थ-प्राप्ति के अवसर आदि विषयों में उन्हें हानि न सहनी पड़े—हाँ, इसमें इस बात का जरूर लिहाज रखना होगा कि ये सार्वजनिक हित के विरोधी न बन जावें।

४. यदि ऐसी स्थिति हो कि बड़ी जाति को छोटी जातियों से डर लगता हो तो या तो (१) बड़ी जाति के जीवन में किसी गहरी

बुराई ने घर कर लिया हो और वह कायर बन गई हो; और छोटी जाति में पशु-बल का मद हो (यह पशु-बल राज-सत्ता के बदौलत हो, या स्वतंत्र हो) अथवा (२) बड़ी जाति के द्वारा कोई अन्याय हो रहा हो और होता रहता हो एवं इसके कारण छोटी जाति में निराशा-जनित मरमिटने का भाव आ गया हो। दोनों का उपाय एक ही है—बड़ी जाति सत्याग्रह के सिद्धान्त को अपने जीवन में धारण करे। चाहे कितना ही कष्ट क्यों न भुगतना पड़े उसे सहकर भी सत्याग्रही बनकर वह उस अन्याय को दूर करे और अपनी कायरता को हटाकर छोटी जाति के पशु-बल को सत्याग्रह के द्वारा जीते।

५. जब दो जातियों में झगड़ा खड़ा हो जाय तब सरकार की या क़ानून की सहायता लेना, प्रजा को निर्वीर्य बना देना है। भले ही दोनों जातियाँ एक-दूसरे का खून बहालें और जब खून से तृप्त हो जायँ तब शान्ति धारण करलें; परन्तु एक-दूसरे के ख़िलाफ़ शिकायत करने न दौड़ जायँ। यह आदर्श स्थिति तो नहीं है, फिर भी विदेशी सरकार की या भड़ैत लोगों की मदद से 'शान्ति' की रक्षा कराने से तो इसमें दुःख कम है।

६. जबतक छोटी जातियों के मन में बड़ी जातियों की नीयत के बारे में शक है तबतक बड़ी जाति को चाहिए कि वह उन्हें अपनी नेकनीयती का विश्वास दिलावे। अर्थात जिन शर्तों को स्वीकार कर लेने से उन्हें निर्भयता प्रतीत हो, उनको जितना अधिक हो सके, मान लिया जाय। यही उनको वश में करने का सबसे श्रेष्ठ उपाय है।

७. परन्तु हाँ, यह नियम वहीं चरितार्थ हो सकता है जहाँ छोटी जाति बड़ी जाति की अपेक्षा प्रगति में पीछे हो। जहाँ छोटी जाति ही अधिक समृद्ध और बलवान हो,वहाँ छोटी बड़ी जाति से अधिक या विशेष अधिकार पाने की माँग नहीं कर सकती।

८. छोटी जाति के पास यदि अधिकार, धन, विद्या, अनुभव इत्यादि का अधिक बल हो और इस कारण बड़ी जाति उससे डरती हो, तो उसका धर्म है कि शुद्ध भाव से बड़ी जाति के हित में अपनी शक्ति का उपयोग करे। सब तरह की शक्तियाँ तभी पुष्ट करने योग्य समझी जा सकती हैं जब उनका उपयोग दूसरे के कल्याण के लिए हो। यदि उनका दुरुपयोग होता हो तो उन्हें विनाश के योग्य समझना चाहिए और आगे-पीछे उनका विनाश हो भी जाता है।

९. सार्वजनिक संस्थाओं में नौकरों, पदाधिकारियों आदि की नियुक्ति मेंजाति-त त्त्व को प्रचलित करना, उन विभागों की कुशलता को नष्ट करने का तरीक़ा है। इसके लिए तो, जात-पाँत, धर्म इत्यादि किसी बात का विचार न करके, काम की योग्यता का ही लिहाज़ नियुक्ति के समय होना चाहिए।

१०. ये सिद्धान्त जिस प्रकार हिन्दू-मुसलमान-सिक्ख आदि बड़ी-छोटी जातियों पर घटित होते हैं उसी प्रकार धनी-ग़रीब, ज़मींदार-किसान, मालिक-नौकर, ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर इत्यादि छोटे-बड़े वर्गों के सम्बन्धों पर घटित होते हैं।

: ४ :

अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध

१. यह ठहराने का अधिकार कि ब्रिटिश-राज्य के साथ भारत का सम्बन्ध किस प्रकार का रहे, भारतीय जनता को है। जबतक यह अधिकार न हो तबतक यह नहीं कह सकते कि स्वराज्य मिल गया।

२. ऐसे अधिकार के सहित यदि ब्रिटिश साम्राज्य के साथ भारतवर्ष का सम्बन्ध जारी रहे तो इससे पूर्ण स्वराज्य में न्यूनता नहीं आ सकती; क्योंकि उस स्थिति में भारत को साम्राज्य में समान अधिकार होगा; अर्थात उसकी विशालता और महत्ता के अनुपात से वह साम्राज्य के दूसरे अङ्गों पर अपना प्रभाव डालता रहेगा। उस स्थिति में ब्रिटिश-साम्राज्य का मध्यबिन्दु विलायत नहीं, बल्कि दिल्ली होगा। उसका नाम भी 'ब्रिटिश-साम्राज्य' न होगा।

३. इस प्रकार यदि भारत का और ब्रिटिश-साम्राज्य के दूसरे अङ्गों का सम्बन्ध हो जाय और यदि भारत की नीति सत्य और अहिंसा की पोषक रहे, तो ब्रिटिश-साम्राज्य आज की तरह जगत् के लिए भय-प्रद न रह जायगा; बल्कि सब राष्ट्रों को अभयप्रदाता हो सकता है।

४. परन्तु इस स्थिति तक पहुँचने के लिए तो भारत को बहुत लम्बा रास्ता तय करना होगा। उसे अपनी शक्ति और अपनी संस्कृति को पहचान कर उसके प्रति वफ़ादार रहना होगा और

उसके लिए अपनी साधना पूरी करनी होगी। जबतक वह निर्बलता और कायरता का आश्रय लेता है तबतक यह असम्भव है।

५. यह बात सच है कि ब्रिटिश-साम्राज्य आसुरी तन्त्र है और उसका नाश ही होने देना उचित है; परन्तु ब्रिटिश-साम्राज्य और ब्रिटिश जाति एक ही वस्तु नहीं है। ब्रिटिश जाति जगत की अथवा यूरोप की दूसरी जातियों से अधिक दुष्ट या कम गुणवान नहीं है। इस जाति में कई आदरणीय और अनुकरणीय सद्गुण हैं और यदि उसके और हमारे वर्तमान विषम-सम्बन्ध के कारण हम उनकी क़दर न कर सकें तो इसे दुर्भाग्य ही कहना होगा।

६. स्वराज्य में भारत-स्थित अंग्रेज़ दूसरी छोटी जातियों की तरह रह सकते हैं। वे भारत की दूसरी जातियों की तरह भारतीय बनकर देश की सेवा में अपना हिस्सा ले सकते हैं। और पिछले प्रकरण में बताये सिद्धान्तों के अनुसार देश की दूसरी जातियों के साथ उनका सम्बन्ध रहेगा। परन्तु यदि वे परदेसी बनकर ही रहना पसन्द करें तो उन्हीं शर्तों के अनुसार यहाँ नौकरी कर सकते हैं जो भारत के अनुकूल होंगी।

: ५ :

देशी राज्य

१. देशी राज्य आज अपने बल पर नहीं, बल्कि ब्रिटिश राज्य के बल पर टिके हुए हैं। उन्हें डर लगा रहता है कि यदि ब्रिटिश राज्य न रहा तो उनकी भी हस्ती न रहेगी। इसलिए वे ब्रिटिश राज्य को क़ायम रखने और ब्रिटिश भारत की प्रजा की

अपेक्षा ब्रिटिश राज्य के प्रति अधिक वफ़ादारी दिखाने की कोशिश करते हैं।

२. परन्तु यह अधिक वफ़ादारी उनकी अधिक गुलामी का चिन्ह है। इसके मूल में शुद्ध भक्ति नहीं, बल्कि भ्रमपूर्ण और गंदा स्वार्थ है।

३. इस कारण देशी-राज्यों की प्रजा दुहेरी गुलामी में हैं। जिस प्रकार गुलामी-प्रथा में गुलामों का अफ़सर मालिक से भी अधिक शक्ति दिखाता है, उसी तरह देशी राज्य अपनी प्रजा के प्रति अधिक कठोरता दिखावे तो आश्चर्य न मानना चाहिए।

४. इसका उपाय यही है कि ब्रिटिश भारत पहले स्वराज्य प्राप्त करले। जबतक ब्रिटिश भारत की प्रजा स्वतंत्र न होगी तबतक देशीराज्यों की प्रजा के संकट दूर करने का सामर्थ्य उसमें न आवेगा। ब्रिटिश भारत की प्रजा जब अपने पुरुषार्थ से स्वतंत्र होगी तो उसमें ऐसी शक्ति पैदा होगी, जो देशी-राज्यों की आँखें खोल देगी। उस समय देशी राज्य देखेंगे कि ब्रिटिश बन्दूकों के बलपर अपनी प्रजा को दबाये रखकर थोड़ी सत्ता या आमोद-प्रमोद करने की अपेक्षा निष्ठापूर्वक प्रजा की सेवा करना, उसके सुख-दुख और दरिद्रता में शरीक होना, प्रीति से उनके हृदय पर अपनी सत्ता जमाना—इसमें उनका भी अधिक श्रेय है।

५. जिन देशी राजाओं की आँखें इस तरह खुल जायँगी वे खुद ही अपने राज्यों में सुधार करने लग जायँगे। जो इतने जड़—ग़ाफ़िल होंगे कि उस समय भी नहीं चेतेंगे, उनके राज्य, कहने की जरूरत नहीं है कि, नहीं रहने पावेंगे। परन्तु ऐसे जड़ राजा भी

आज की तरह मनमानी हरगिज़ न कर सकेंगे। क्योंकि स्वतन्त्र ब्रिटिश भारत का तथा सुधरे हुए देशी राज्यों का एकत्र लोक-मत इतना प्रबल हो जायगा कि दुष्टों को भी अपनी दुष्टता को मर्यादित किये बिना चारा न रहेगा।

६. पुरुषार्थी और स्वतन्त्र प्रजा के शिक्षित लोकमत में कितना भारी बल रहता है, उसका अनुभव हमें सामाजिक व्यवहारों में होता है—फिर भी हम उसे भूल गये हैं। जो सत्तायें पशु-बल के ऊपर जीवित हैं वे भी तभीतक पशुबल का अवलम्बन कर सकती हैं जबतक लोकमत उसके ख़िलाफ़ प्रबल न हो। जहाँ लोकमत का जबरदस्त प्रवाह है वहाँ बड़ी-से-बड़ी सल्तनत भी झुके बिना नहीं रह सकती।

७. यह लोकमत कितना बलवान है इसको प्रदर्शित करने वाला और कभी हार न खानेवाला शस्त्र एक ही है—सत्याग्रह। जो प्रजा, जो राष्ट्र अपने मत के पीछे मर-मिटने को तैयार है उस के सामने बड़े-बड़े मुकुट-धारियों को भी झुके बिना गति नहीं है।

: ६ :

देश की रक्षा

१. यह ख़याल ग़लत है कि स्वराज्य में देश की रक्षा करने का बल भारत के पास न होगा।

२. जिस समाज ने अहिंसा-धर्म को समझ लिया है और जो बराबर उसका पालन करता है उसे तो देश-रक्षा के लिए, तोप,

बन्दूक़, जहाजी बेड़े आदि की जरूरत ही न होगी। परन्तु आज तो यह स्थिति एक कल्पना ही हो सकती है।

३. फिर भी भारतवर्ष को, जोकि स्वतन्त्र होगा और परराष्ट्रों के साथ मेल-जोल से रहने तथा उनके निर्वाह के साधनों पर आक्रमण न करने की नीति से चलता होगा, आज की तरह और आज के इतने सैनिक साधनों की और सेना की जरूरत न होगी।

४. स्वराज्य में, उचित मर्यादा और बन्धन के अन्दर, हर योग्य आदमी को हथियार रखने की छुट्टी रहेगी। उसे अपना राज्य-व्यवहार चलाते हुए हमेशा दूसरे देशों के आक्रमण की आशंका नहीं रहेगी। इसलिए वह सिर्फ इतनी ही सेना और सैनिक तैयारी रक्खेगा कि जिससे अकल्पित आक्रमण या परि-स्थिति के पहले हमले का मुक़ाबला किया जासके और जरूरत पैदा हुई ही तो देश को तेजी के साथ तैयार कर लेने की आशा रक्खेगा।

५. हम इस तरह प्रजा को शिक्षा देने का प्रबन्ध करेंगे कि जिससे देश की बहुतेरी व्यवस्था तो क़ानून और अधिकारियों की राह देखे बिना ही प्रजा सावधानी से कर लेगी और यदि उसमें सफल होगये तो उस स्थिति में देश में ऐसे स्वयंसेवकों के अनेक मण्डल होंगे जिनके जीवन का मुख्य कार्य ही होगा, प्रजा की सेवा करना और उनके लिए अपना बलिदान कर देना। ये मंडल केवल लड़ाई लड़नेवाले ही न होंगे, बल्कि ऐसे होंगे जो प्रजा को शिक्षा देंगे, उनमें व्यवस्था, व्यवहार और सुख-सुविधा को क़ायम रक्खेंगे। देश की आपत्ति के समय पहला वार वे ही सहन करेंगे।

६. स्वराज्य में यदि ऐसी स्थिति हो कि देश की सेना से देश की प्रजा को ही भयभीत रहना पड़े और उन्हीं पर देशी सैनिकों की गोलियाँ चलें, तो वह स्वराज्य या रामराज्य नहीं, बल्कि शैतानी राज्य होगा। सत्याग्रही का धर्म होगा कि वह ऐसे राज्य का भी विरोध करे।

७. देश के सिपाही यदि प्रजा के मित्र हों, प्रजा की आपत्ति के समय उनके लिए प्राण देते हों, तभी वे क्षत्रिय हैं; परन्तु यदि वे प्रजा को भयभीत करते हों और शरीर या शस्त्र-बल से उसे पीड़ित करते हों, तो वे डाकू और लुटेरे हैं। यदि राज्य की ओर से उनको आश्रय मिलता हो तो वह डाकू और लुटेरों का राज्य है।

खण्ड ६ :: वाणिज्य

: १ :
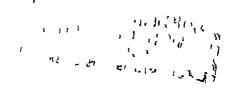
पश्चिमी अर्थशास्त्र

१. पश्चिम के अर्थशास्त्र की बुनियाद ग़लत दृष्टि-बिन्दुओं पर डाली गई है, जिससे वह अर्थशास्त्र नहीं, बल्कि अनर्थ-शास्त्र हो गया है।

२. वे ग़लत दृष्टि-बिन्दु इस प्रकार हैं—

(अ.) उसने भोग-विलास की विविधता और विशेषता को संस्कृति का प्राण माना है।

(आ.) वह दावा तो करता है ऐसे अचल सिद्धान्त निकालने का जो सब देशों और सब कालों पर घटित होते हों; परन्तु सच बात यह है कि उनका निर्माण यूरोप के छोटे, ठण्डे और खेती के लिए कम अनुकूल देशों में, घनी बस्तीवाले परन्तु मुट्ठी-भर लोगों की, अथवा बहुत थोड़ी आबादीवाले उपजाऊ बड़े खण्डों की परिस्थिति के अनुभव से बना हुआ है।

(इ.) पुस्तकों में भले ही निषेध किया गया हो, फिर भी योजना और व्यवहार में यह मानने और मनवाने की कि (क) व्यक्ति, वर्ग या अधिक हुआ तो अपने ही छोटे से देश के अर्थ-लाभ को प्रधानता देनेवाली और उसके हित की पुष्टि करनेवाली नीति ही अर्थशास्त्र का अचल शास्त्रीय सिद्धान्त है, और (ख) क़ीमती धातुओं को हद से अधिक प्राधान्य देने की पुरानी रट में से वह मुक्त नहीं हो पाया है।

(ई.) उसकी विचार-श्रेणी में अर्थ और नीति-धर्म का कोई संबंध नहीं माना गया है, इस कारण अर्थ की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण जीवन के विषयों को गौण समझने की आदत उसने अपने समाज में डाल दी है।

३. इसके फल-स्वरूप—

(अ.) यह अर्थशास्त्र यन्त्रों का, शहरों का तथा (खेती की अपेक्षा से) उद्योगों का अंधपूजक बन गया है।

(आ.) इसने समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों और देशों में समन्वय सिद्ध करने के बजाय विरोध उत्पन्न किया है और सर्वोदय के बदले थोड़े लोगों का थोड़े समय के लिए ही लाभ सिद्ध किया है।

(इ.) पिछड़े हुए समझे जानेवाले देशों में आर्थिक लूट मचाकर, तथा वहाँ के लोगों को व्यसनों में फँसाकर और उनका नैतिक अधःपात करके समृद्धि का पथ खोजता है।

(ई.) जिन राष्ट्रों या समाजों ने इस अर्थशास्त्र को अंगीकार किया है उनका जीवन पशु-बल पर ही टिक रहा है।

(उ.) शास्त्रीय सिद्धान्तों के नाम पर इसने जिन-जिन वहमों को पुष्ट किया है, वे धार्मिक या भूत-प्रेतादि के नाम से प्रचलित वहमों से कम बलवान नहीं हैं।

: २ :

भारतीय अर्थशास्त्र

१. भारत की और विशेषताओं को एक ओर रख दें तो भी भारत एक बहुत विशाल देश है। उसकी आब-हवा विविध प्रकार की है। उसमें जमीन भी है तो तरह-तरह की; परन्तु हजारों वर्षों से जोती जाने के और जनता की ग़रीबी के कारण वह कम उपजाऊ होगई है। उसकी आबादी कुल मनुष्य-जाति का १/५ है; वह छोटे-छोटे गाँवों में बँटी हुई है; उसमें अनेक प्रकार की—धर्म, संस्कृति, स्वभाव और रस्म-रिवाजों की—विविधता है, ये स्थूल कारण भी ऐसे हैं जो भारतीय अर्थ-शास्त्र के विचार को पश्चिम की रट में से मुक्त करने की आवश्यकता बताते हैं।

२. भारतीय अर्थशास्त्र के मुद्दे इस प्रकार बताये जा सकते हैं—

(अ.) गाँवों को दृष्टि में रखकर उसका विचार करना चाहिए;

(आ.) उसमें खेती और उद्योग का परस्पर निकट सम्बन्ध होगा, दोनों, साधारणतः एक ही झोंपड़ी में रह सकने वाले होंगे।

(इ.) इस अर्थशास्त्र का विचार इस तरह करना होगा जिससे विविध धर्मों, संस्कारों और स्वभाव रखनेवाले लोगों में अनुचित हित-विरोध और कलह न पैदा हो।

(ई.) इस कारण वह क़दम-क़दम पर नीति-धर्म को हमारे सामने रखकर सर्वोदय सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा।

: ३ :

ग्राम-दृष्टि

१. यह तो बराबर कहा गया है कि हिन्दुस्तान गाँवों में बसा हुआ है, परन्तु उसकी सम्पत्ति-सम्बन्धी बहुतेरी वर्तमान योजनायें गाँवों के हित की दृष्टि से नहीं बनी हैं, बल्कि शहरों और विदेशों के हित की दृष्टि से बनाई गई हैं।

२. नतीजा यह हुआ है कि गाँवों का कच्चा माल शहरों में जाता है और वहाँ से विदेशों को रवाना हो जाता है। एवं शहरों और विदेशों में बना पक्का माल गाँवों में भेजने की हिदायत की की जाती है। इससे बहुतेरा कच्चा माल बेचने से मिला थोड़ा रुपया फिर कुछ पक्के माल के खरीदने में खर्च हो जाता है और ग्रामवासी ज्यों-का-त्यों रीता रह जाता है।

३. फिर, जीवन के कितने ही ऐसे साधनों के बदले, जो गाँवों के खेतों और जंगलों से लगभग मुफ्त मिल सकते हैं तथा जिनको एकत्र करके लोगों तक पहुँचाने से ग़रीबों का सहज गुज़ारा चल सकता है, शहरों और विदेशों में बने कुछ सुविधा दिखानेवाले, लेकिन अधिकांश में अपनी चमक-दमक के ही कारण आवश्यक और बढ़िया माल लेने की फ़ैशन बढ़ जाने से देहात के कितने ही उद्योग-धन्धे नष्ट होगये हैं और होते जा रहे हैं।

४. ऐसा बहुत आकर्षक माल तो आरोग्य और स्वच्छता की

दृष्टि से हानिकर और गन्दा भी होता है और खर्चीला होता है सो अलग—इससे लोगों की आदतें बिगड़ती हैं और खर्चीली होती जाती हैं। मिसाल के तौर पर—दतौन की जगह तरह-तरह के दंतमंजन, पेस्ट, टुथब्रश; गुड़ और देहाती खांड की जगह मिल के सफ़ेद शक्कर-कण; लकड़ी की खटिया या पलंग के ऐवज़ में लोहे के पाइप या छड़ के पलंग; खपरैल की जगह टीन; सन, मूँज आदि की रस्सियों के बजाय तार और तार की रस्सियाँ; देहाती चटाइयों की जगह चीनी और जापानी चटाइयाँ; गाँवों में बाँस या घास के बने सूप, टोकनी आदि के स्थान पर लोहे की चादर के बने सूप, डब्बे आदि; देहाती लुहार या कसेरे की बनाई जंजीर, कड़ियाँ, हत्थे आदि के बदले मशीन से बने तार की या पतरे की बनी वैसी ही कमजोर परन्तु आकर्षक चीजें; देहात के सुनार के बनाये गहनों के ऐवज में शहरों में मशीन से तैयार किये गहने; देहाती स्त्रियों द्वारा गूँथे पंखे, बुने आसन, जाजम, शाल आदि की जगह जापानी काग़ज़ के पंखे, मिल में यांत्रिक ढंग से बने कारीगरी के आसन, शाल वग़ैरा; रीठा, शिकाकाई, इत्यादि प्राकृतिक वस्तुओं के बदले सुगन्धित साबुन; बरू के बदले तरह-तरह की फाउण्टेन पेन और होल्डर, और उसके फल-स्वरूप देहाती रोशनाई के बदले रासायनिक रोशनाइयाँ; देहात के काग़ज़ की जगह मशीन के काग़ज़; घरेलू ताज़े काढ़े आदि के बदले तैयार दवाइयों की बोतलें आदि।

५. ये सब चीजें ग्रामों में बनी वस्तुओं से सस्ती भी नहीं पड़तीं। परन्तु एक तो इन चीज़ों की मोहकता के और दूसरे

अविचारी धनी लोगों की चलाई फ़ैशन के अन्धानुकरण में मानी गई सभ्यता के तथा लोगों में घुस बैठे आलस्य और जड़ता के कारण, आर्थिक स्थिति के अनुकूल न होते हुए भी, ये चीजें खरीदी जाती हैं।

६. फिर अविचारी यन्त्रवाद ने भी देहात को निर्धन बनाने में बड़ा हिस्सा लिया है; जैसे कि कपास लोढ़ने के, पीसने के, कूटने के, पीलने के कारखाने, मोटर गाड़ी, 'बस' आदि।

७. इसके अलावा बीच के व्यापारियों की संकुचित और तत्काल अधिक मुनाफ़ा कमाने की स्वार्थ-दृष्टि ने बहुत-सा देहाती माल, विदेशी और मशीन के माल की अपेक्षा परते में मँहगा न होते हुए भी, खरीदार के लिए मँहगा बना दिया है। इससे जो बाजार आसानी से देहात के हाथ में रह सकता है वह भी कारखाने वालों और विदेशियों के हाथ में चला गया है।

८. जब अर्थशास्त्र में और जीवन में ग्राम-दृष्टि का प्रवेश होगा तब लोगों का दिल देहात की बनी चीजों का अधिकाधिक उपयोग करने की ओर झुकेगा; अपने जीवन की आवश्यक वस्तुओं को देहात में तैयार कराने की ओर उनकी प्रवृत्ति होगी। इसके फलस्वरूप देहात की कला-कारीगरी और औज़ारों के सुधारने की, देहात के लोगों को शिक्षित बनाने की, देहाती जंगल और खेतों की पैदावार की, तथा उपयोग करने के ज्ञान के अभाव में देहात में फ़जूल चले जानेवाले सम्पत्ति के अनेक कुदरती साधनों की जाँच-पूँछ करने की प्रवृत्ति पैदा होगी।

९. आज सम्पत्ति देहात से शहरों में होकर विदेश चली

जाती है। इस प्रवाह को बदल देने की जरूरत है, जिसमें देहात -की सम्पत्ति देहात में ही रहे और देहात स्वावलम्बी बनें—इतना ही नहीं,बल्कि शहरातियों की आवश्यकता का बहुतेरा माल देहात में बनने लगे।

: ४ :

धनेच्छा

१. आमतौर पर यह भले ही कहा जाय कि मनुष्य-जाति का एक बड़ा भाग आर्थिक स्थिति में और सुख-सुविधाओं में घटा-बढ़ी कराना चाहता है; परन्तु यह कहना और जँचाना कि मनुष्य के धन और सुख की इच्छा की कोई सीमा ही नहीं है, और सभी लखपती, जमींदार या राजा बनने अथवा बँगलों और महलों में रहने के लिए छटपटा रहे हैं, मानों साधारण मनुष्य को न समझना है, उनके प्रति हलकी राय क़ायम करना है और उनके सामने क्षुद्र आदर्श रखना है।

२. जन-साधारण का बड़ा भाग न तो धन को ठोकर ही मारता है और न उसकी अपार तृष्णा ही रखता है। हाँ, वे इतना जरूर चाहते हैं कि वर्ष के अन्त में दो पैसे उनके पास बच जायँ—सो भी बीमारी, मौत, शादी-ब्याह, या बुढ़ापे में काम आने के लिए, अथवा त्योहार, यात्रा, दान-धर्म करने के लिए। उसकी इतनी मर्यादा जरूर होती है। जिन लोगों में धार्मिक संस्कार प्रबल हैं उनमें धन और सुख की तृष्णा को अमर्याद न होने देने का संस्कार थोड़ा-बहुत काम करता ही रहता है।

३. जिस प्रकार सब राजा सिकन्दर या नेपोलियन बनने की, अथवा भर्तृहरि या गोपीचन्द होने की महात्त्वाकांक्षा या उसके लिए पुरुषार्थ करने का सामर्थ्य नहीं रखते, उसी प्रकार करोड़ों लोग धनी बनने का अथवा निष्किञ्चन बनने का हौसला या हिम्मत नहीं रखते।

४. बात यह है कि प्रत्येक समाज में कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनकी बड़ी महत्त्वाकांक्षायें होती हैं, जिनमें पुरुषार्थ करने का असाधारण सामर्थ्य होता है। इनमें से कुछ तो अकिंचन बनने का आदर्श रखते हैं और कुछ लाखों के स्वामी बनने का।

५. समाज की व्यवस्था और रचना ऐसी होनी चाहिए जिसमें प्रजा की आवश्यक सुख-सुविधा और धनेच्छा को धक्का पहुँचाये बिना, उन्हें पुरुषार्थ करने का उचित अवसर मिले, यही नहीं, बल्कि उसके फल-स्वरूप उनकी महत्त्वाकांक्षा को पोषण मिले पर वह इस तरह कि अंत में उससे समाज का लाभ ही हो।

६. यदि समाज-व्यवस्था में ऐसे पुरुषार्थ के लिए अवसर न हो तो उनकी महत्त्वाकांक्षायें और पुरुषार्थ उन्हें गलत रास्ते ले जायँगे और समाज की हानि करेंगे।

७. उद्योग-धन्धे तथा समाज-सेवा के कितने ही कामों में अनेक प्रकार के साहस और जोखिम उठाने पड़ते हैं। उनकी सिद्धि शंकास्पद होती है, और, इसलिए, उनके प्रयोगों के लिए राज्य-संस्थाओं की अपेक्षा कोई व्यक्ति या खानगी संस्था अधिक अनुकूल और सुविधाजनक हो सकती है। समाज-रचना इसके अनुकूल होनी चाहिए।

: ५ :

व्यापार

१. व्यापार का योग्य क्षेत्र है बड़े उद्योगों का विकास करना और आवश्यक पदार्थ लोगों के पास पहुँचाना। उसमें अनायास जो बचत रह जाती है उसे मुनाफ़ा कह सकते हैं।

२. अनायास बचत का अर्थ यह है कि उद्योग-धन्धे में जो-कुछ खर्च-वर्च हो उसे निकालने के उपरान्त जो थोड़ी रक़म और जोड़ ली जाती है, इस उद्देश्य से कि नुक़सान पड़ने की अवस्था में काम आवे, वह बचत। यों देखा जाय तो यह बचत बहुत मामूली मालूम होती है, किन्तु उद्योग यदि बड़े पैमाने पर होगा तो यह न-कुछ बचत भी कुल मिलाकर बड़ी हो सकती है।

३. परन्तु इस प्रकार जो धन बचेगा या बढ़ेगा वह या तो उद्योग-धन्धों में लगे मजूरों के हित में, या दूसरे उपयोगी उद्योगों के विकास में, या सार्वजनिक हित के बड़े कार्यों में लगाना चाहिए।

४. यदि ऐसे धन का मालिक अपने को उसका रक्षक समझ कर उसीके अनुसार उसका उपयोग करना अपना धर्म समझेगा तो निजी सम्पत्ति का अधिकारी होते हुए भी उससे प्रजा का हित होगा और उससे किसी को ईर्ष्या न होगी।

५. परन्तु यदि वह इससे महज़ अपनी स्वार्थ-साधना ही करेगा और धन-सम्पत्ति को बढ़ाने की ही दृष्टि रक्खेगा तो वह अपने को तिरस्कार का पात्र बना देगा और इसके फल-स्वरूप धनी-ग़रीब में भेद-भाव और कलह उत्पन्न हो जायगा।

६. यदि धनवान् लोग ऐसा व्यवहार रक्खेंगे कि उनके बाग़-बग़ीचे, बंगले, गहने, गाड़ी-घोड़े, ठाठ-बाट, बरतन, दरी-ग़लीचे आदि उनके आश्रितों को उनके कौटुम्बिक अवसरों पर इस्तैमाल करने के लिए मिल सकें, यदि वे इस बात को अपना कुल-धर्म समझेंगे कि आश्रितों के घर जब कोई प्रसंग आ जाय तब उसे इस तरह पार लगा दें कि जिससे उनका मन प्रफुल्लित हो जाय, और इसके साथ ही यदि ग़रीबों का जीवन कष्टपूर्ण न हो तो धनी लोगों के सोने के बरतन में भोजन करते हुए भी ग़रीबों को उसकी डाह न होगी; बल्कि अधिकांश लोग तो इनकी साल-संभाल की झंझटों से बचते रहने की ही इच्छा करेंगे।

७. जहाँ धनवान का व्यवहार ऐसा हो वहाँ कह सकते हैं कि वह अपने धन का उपयोग अधिकांश में एक रक्षक के तौर पर करता है। इसमें उसके धन-लोभ का सर्वथा अभाव तो नहीं है, परन्तु यह धन-संग्रह ऐसा है जो प्रजा का द्रोह किये बिना और जब आवश्यकता पड़ जाय तब उपयोगी हो सकता है।

८. यदि ऐसी स्थिति हो तो फिर साम्यवादियों के कहने में आकर लोग पूँजीपतियों का नाश करने के लिए तैयार न होंगे।

९. इसके अलावा यदि धनवान् ख़ुद अपना जीवन सादा और संयमपूर्ण रक्खेगा तो वह धनवान् होते हुए भी प्रजा के लिए पूज्य हो जायगा।

: ६ :

ब्याज-बट्टा

१. थोड़े ब्याज पर रुपया लेकर अधिक ब्याज पर देने का नाम ब्याज-बट्टा है; परन्तु समाज-हित के लिए जो ब्याज-बट्टे का व्यापार अनिवार्य है वह इस तरह का नहीं है।

२. आज जिस प्रकार का ब्याज-बट्टा या लेन-देन दुनिया में चल रहा है वह या तो विदेशी व्यापारियों की दलाली या आढ़त का धन्धा है अथवा किसानों तथा दूसरे पेशेवालों की जमीन और माल-मिल्कियत, अथवा इससे भी आगे बढ़कर पर-राज्यों को धीरे-धीरे हजम कर जाने की अप्रामाणिक युक्तियाँ हैं। यूरोप, अमेरिका जैसे देशों में अधिक ब्याज के लोभ ने अपने देश के गरीबों के हित की उपेक्षा करके विदेशों में रुपया लगाने की प्रवृत्ति पैदा कर दी है। इससे धनी देशों में भी कष्ट और अशान्ति पाये जाते हैं।

३. यह खयाल कि व्यापार-धन्धे में झूठ बोलना बुरा नहीं है, भयंकर अधर्म-मय है।

४. अपढ़, भोले-भाले और विश्वासशील लोगों को, अथवा विलास-लिप्त धनी-मानियों या राजा-रईसों को दुर्व्यय और दुर्व्यसनों के लिए क़र्ज़ देने और क़र्ज़ लेने के लिए ललचाना, देन-लेन के व्यवहार में उन्हें ठगना, झूठे बहीखाते और दस्तावेज रखना या बना लेना, यह साहूकारी नहीं, बल्कि ज्वलन्त पाप और हिंसा है।

५. ऐसे अधर्म्य ब्याज-बट्टे के व्यापार से अर्थ नहीं, बल्कि अनर्थ की वृद्धि हुई है।

६. मनुष्य के पास यदि कुछ पूँजी बच रहे तो उसे चाहिए कि वह उसे किसी उद्योग-धन्धे की सहायता में लगावे। सबसे पहले तो वह स्वदेश में ही लगनी चाहिए। यदि उद्योग-धन्धों में लगाते हुए भी वह बढ़े तो स्वदेश के सार्वजनिक हित के कामों में उसका पहला उपयोग होना चाहिए। यह विचार हमेशा ही ठीक नहीं है कि पूँजी को क़ायम रखकर सिर्फ ब्याज ही जन-हित के कार्यों में लगाना चाहिए। इस विचार के कारण पूँजी का अधिक से-अधिक उपयोग करने के एवज़ में अधिक-से-अधिक ब्याज पैदा करने की वृत्ति पैदा हुई है।

७. ब्याज पर रुपया उधार लेकर कौटुम्बिक काम करने की मनाई होनी चाहिए। सामाजिक रस्म-रिवाजों में इस तरह परिवर्तन हो जाना चाहिए कि जिससे वे थोड़े-से-थोड़े खर्च में हो सकें। इतना हो जाने पर भी बीमारी अथवा किसी दूसरी अपत्तियों के या विवाहादि के अवसर पर यदि नक़द रुपयों की ज़रूरत पड़ जाय तो यह सहायता समाज में से मित्रता के नाते बिना ब्याज के मिलनी चाहिए। गृह अथवा कौटुम्बिक कार्यों के लिए यदि दूकानदार माल अथवा रुपया उधार दे, तो उसपर ब्याज लेना ग़ैरक़ानूनी समझा जाना चाहिए।

८. आजकल तो ऐसे कर्ज़ पर बहुत ब्याज मिल सकता है, और इससे ऋण-दाताओं को अपने आसामियों को व्यसनों में और फ़ज़ूलखर्ची में प्रेरित करने का प्रलोभन रहता है।

९. दूसरी ओर, मीयाद के तथा नादारी-नादिहन्दी के क़ानूनों ने तो लोगों की नैतिक भावना नष्ट करने में जबरदस्त हिस्सा लिया है। इनकी बदौलत दिवाला निकाल देना, सटोरियापन, और न देने की नीयत रखते हुए कर्ज़ लेने की प्रवृत्ति बढ़ी है।

१०. इस तरह आसामी और साहूकार का सम्बन्ध चूहे-बिल्ली जैसा, अथवा एक-दूसरे को ठगने की कोशिश करनेवाले शत्रुओं का-सा हो गया है। पुश्तों से चला आया सम्बन्ध, जो एक-दूसरे का हित चाहता था, जिसमें साहूकार आसामी के उद्योग-धन्धों में सहायता पहुँचाने की नीयत और इच्छा रखता था और आसामी अपने पुरखों का वाजिब क़र्ज़ अदा करना अपनी कुल-मर्यादा समझता था, नहीं रह गया है।

११. जो हालत आसामी और साहूकार की हुई वह ही नौकर और मालिक की हो गई है।

: ७ :

मज़दूरों के प्रश्न

१. जीवन-सम्बन्धी ग़लत दृष्टिकोण ने मजदूरों के प्रश्न को बहुत उलझन में डाल दिया है।

२. वे ग़लत दृष्टि-बिन्दु इस प्रकार हैं—

(क) मनुष्य फ़ुरसत को ही चाहता है और काम को बेगार समझता है।

(ख) मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिए फ़ुरसत की ही आवश्यकता है, शारीरिक श्रम उसका विरोधी है।

(ग) कम-से-कम काम करके अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त करना श्रम-विभाग का ध्येय है।

(घ) मालिक और मजदूर के स्वार्थ एक-दूसरे के विपरीत हैं।

३. इन कारणों से मजदूरों के सामने नीचे लिखे ग़लत आदर्श रखने का प्रयत्न किया जाता है—

(क) यन्त्रों में खूब सुधार करके, दो-चार घण्टे के श्रम से जीवन की आवश्यकतायें पूरी करना;

(ख) पूँजीपतियों का नाश करना।

४. सम्भव है कि ये आदर्श सिद्ध हो जायँ; परन्तु यह नहीं कह सकते कि इनसे मानव-जाति को सुख ही मिलेगा।

५. वास्तव में तो मजदूरों के, या यों कहिए कि, करोड़ों के सुख के लिए निम्न-लिखित दृष्टि से विचार करना चाहिए—

(क) मनुष्य को बाह्य साधनों के अधीन इतना अधिक न कर देना चाहिए कि जिससे उसकी श्रम करने की स्वाभाविक शक्ति का ह्रास हो जाय और वह श्रम से जीविका पैदा करने के अयोग्य बन जाय।

(ख) इसलिए मनुष्य की शरीरिक श्रम करने की शक्ति बढ़नी चाहिए; और मजदूरों के काम के घण्टे उनके खान-पान, घर-बार आदि की सुविधा उनकी शक्ति की रक्षा और वृद्धि की दृष्टि से नियत करनी चाहिए।

(ग) अत्यन्त सूक्ष्म श्रम-विभाग करके मजदूर को जड़यन्त्र की तरह बनाकर २-४ घण्टे नीरस यान्त्रिक क्रिया में उसे जोतना और फिर मौज-शौक, आमोद-प्रमोद के लिए उसे छुट्टी देने—

आज़ाद कर देने से मनुष्य-जाति का कल्याण नहीं होगा। बल्कि उद्योग-धन्धों की रचना इस तरह करनी चाहिए कि जिससे उसे अपने काम करने में ही आनन्द आवे, काम ही उसके लिए शौक़ या आमोद-प्रमोद हो जाय और उसमें वह अपना आध्यात्मिक विकास कर सके।

(घ) इसका अर्थ यह है कि मनुष्य को उद्योग-धन्धों के अतिरिक्त दूसरे कामों की आवश्यकता ही नहीं है, या उनके लिए अव-काश की ज़रूरत नहीं है। प्रत्येक मनुष्य का एक शगल होना चाहिए और उसके लिए उसे अवकाश मिलना भी उचित है; अभी तक ऐसी संस्कारिता का तो प्रसार हुआ नहीं है कि जिससे मानव-समाज का एक बड़ा भाग फ़ुरसत का समय उचित रीति से बिता सके। इसलिए आज तो अधि-कांश लोग फ़ुरसत का समय, नींद, व्यसन और दोषमय भोग-विलास में बितावेंगे, ऐसा भय है।

(च) मनुष्य को अपनी गुज़र के लिए जो कठिन श्रम करना पड़ता है यह क़ुदरत का कोप नहीं बल्कि अनुग्रह है। इसलिए ध्येय तो यह होना चाहिए कि ऐसा श्रम करने का सामर्थ्य बढ़े, न कि कम हो जाय।

(छ) मालिक मज़दूरों का व्यवस्थापक बनकर यदि उन्हें शक्ति-भर ही काम दे और पूरा मिहनताना तथा सुख-सुविधा करदे एवं मज़दूर मालिक के काम को अपना समझकर मन लगाकर मिहनत करे—तो इसमें दोनों का हित बढ़ता है।

(ज) इसके लिए निजी पूँजी का होना-न-होना यह प्रश्न बहुत महत्त्व

नहीं रखता है; परन्तु उद्योग और वाणिज्य का ध्येय बदलने की जरूरत जरूर है।

(झ) उद्योग का ध्येय यह नहीं है कि व्यापार बढ़ाने के लिए नई-नई जरूरतें खड़ी की जायँ, बल्कि यह है कि मौजूदा हाजतों और जरूरतों के लिए अच्छे-से-अच्छा प्रबन्ध किया जाय। व्यापार का भी प्रयोजन इतना ही है। फिर भी संभव है, कितनी ही नई आवश्यकतायें पैदा होती रहें। परन्तु यदि इस ध्येय पर से ध्यान न हटाया जाय तो वणिज्य पिछड़ी जातियों की हाजतें बढ़ाने के लालच में न पड़ेगा और उन्हें चूसने की नीति मंजूर न करेगा। ऐसा होने से मजदूर और मालिक अन्योन्याश्रित होकर रहेंगे।

(ट) यदि ऐसा ध्येय न रहेगा तो पूँजीपति व्यक्ति के बदले जड़ तंत्र मालिक बन बैठेगा अथवा एक राष्ट्र मालिक और दूसरा मजदूर बनेगा और इससे मनुष्य का सुख नहीं बढ़ेगा।

: ८ :

स्वाश्रय और श्रम-विभाग

१. स्वाश्रय का अर्थ श्रम-विभाग का विरोध नहीं और न दूसरे देशों के साथ औद्योगिक सम्बन्ध का अभाव ही है। यह संभव ही नहीं है कि समाज में रहनेवाले लोग पूर्ण-रूप से स्वाश्रयी हो सकें। अर्थात् अपनी सब आवश्यकतायें अपने ही श्रम से पूरी कर सकें। ऐसे प्रयत्न का परिणाम मिथ्या अहंकार की वृद्धि और व्यर्थ उद्योग हो सकता है। जो यह आदर्श रखता

है कि सारे जगत् के साथ प्रेम और अहिंसा के द्वारा एक-रूप हो जायँ वह स्वयं पर्याप्त (Self-Sufficient) होने का मिथ्या भाव न रक्खेगा।

२. फिर भी अपनी जितनी जरूरतें और जितने काम मनुष्य सहज ही खुद पूरा कर सकता है और जिसके लिए कुदरती अनुकूलतायें भी हों, उनमें स्वाश्रयी रहना अनुचित नहीं, बल्कि उचित ही है। ऐसी बातों में दूसरे से मिहनत लेनी ही चाहिए और उसके लिए आर्थिक लेन-देन का सम्बन्ध बाँधना ही चाहिए—ऐसा कोई धर्म नहीं है। जैसे—यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य का कर्त्तव्य है कि कपड़े धोबी से ही धुलाये जायँ, पाखाना भंगी से ही साफ़ कराया जाय, बाल नाई से ही बनवाये जायँ, या खाना होटल में ही जाकर खाया जाय।

३. यही नियम देश और राष्ट्र के व्यवहारों पर भी घटित होता है। हिन्दुस्तान जैसा देश, जिसमें काफी अनाज और रुई पैदा होती है, अन्न और वस्त्र के मामले में स्वाश्रयी बन जाय तो यह नहीं कह सकते कि वह स्वपर्याप्त बनने का हौसला रखता है या दूसरे देशों के साथ औद्योगिक सम्बन्ध रखना नहीं चाहता।

४. इसी तरह जिन-जिन उद्योगों के विकास के लिए भारतवर्ष में प्राकृतिक अनुकूलतायें हैं उनके विकास की योजना वह करे तो इसमें कोई दोष नहीं है। ऐसी आर्थिक नीति को अपनाये बिना राष्ट्र को सुखी बनाने की आशा रखना फ़िज़ूल है।

५. भारत का अनाज विदेश भेजकर वहाँ से रोटी मंगाकर खाना, यहाँ से तिलहन या मूंगफली भेजकर वहाँ से तेल बनवा

कर मंगाना, रुई भेजकर कपड़ा मँगवाना इस पद्धति को देशान्तर (अन्तर्राष्ट्रीय) श्रम-विभाग और देशान्तर सहयोग कहना अथवा लंकाशायर जैसे स्थान में लोहे या कोयले की खानें हैं और वहाँ की हवा नम है इसीलिए कहना कि वहाँ कपड़ा बनाने की प्राकृतिक अनुकूलता है, श्रम-विभाग और सहयोग-तत्त्व का दुरुपयोग है।

: ६ :

राजनीतिक स्वदेशी

१. प्रत्येक देश की आर्थिक नीति ऐसी होनी चाहिए कि जहाँ कच्चा माल पैदा हो वहीं उससे पक्का माल तैयार करने के कारखाने होने चाहिएँ। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से इसीको 'स्वदेशी आन्दोलन' कहते हैं।

२. कच्चा माल यदि विदेश जाय और वहाँ से उसकी तरह-तरह की चीजें बनकर फिर स्वदेश को लौटे, तो ऐसी पद्धति, आर्थिक दृष्टि से लाभकारक प्रतीत होने पर भी, उसके मूल में, स्वदेश में या विदेश में किसी-न-किसी अन्याय या अधर्म के होने की अथवा हिसाब लगाने में कहीं-न-कहीं भूल होने की अधिकांश सम्भावना है।

३. इंग्लैण्ड जिसे 'फ्री ट्रेड' अथवा मुक्त व्यापार कहता है, वह, सच पूछा जाय तो वैसा व्यापार नहीं है। क्योंकि वह अपने कल-कारखानों की रक्षा के लिए तथा दूसरे देशों के उद्योग-धन्धों को मटियामेट करने के लिए सिर्फ जकात का ही नहीं, बल्कि

सैनिक-बल का एवं राजनीतिक सत्ता और कुटिल नीति का भी अवलम्बन करता है। स्वदेशी-नीति का यह अधम और अन्याय-पूर्ण रूप है।

४. आर्थिक दृष्टि से स्वदेशी और बहिष्कार में भेद नहीं है। जिस चीज पर करोड़ों लोगों का जीवन अवलम्बित हो वह विदेशों से मँगाई ही नहीं जा सकती अर्थात् उसका बहिष्कार करना ही पड़ेगा। यहाँ बहिष्कार किसी देश-विशेष के साथ न होगा; बल्कि समस्त देशों के साथ होगा—इसलिए यह 'स्वदेशी' ही कहा जायगा।

५. किसी देश-विशेष के साथ यदि बहिष्कार किया जाय तो वह राजनीतिक दृष्टि से ही हो सकता है—इसलिए उसका विचार इस प्रकरण में करने की आवश्यकता नहीं।

: १० :

यान्त्रिक साधन

१. भारतीय अर्थशास्त्र की दृष्टि से यान्त्रिक साधनों तथा उन में आवश्यक सुधारों के दो भाग किये जा सकते हैं—

(अ) मुख्यतः इस दृष्टि को प्रधान रखकर कि यन्त्र और उनमें सुधार ऐसे हों कि जिससे श्रम-कर्त्ता मनुष्य या पशु को कुछ कम श्रम हो और थोड़ा समय बच जाय—जैसे कि, गिर्री, चक्की, चरखा, साइकिल, सीने की कल, झटका-करघा, गाड़ी इत्यादि तथा उसमें घर्षणादि दोष कम करने के लिए किये गये सुधार, जैसेकि, बाल बिअरिंग, पक्की सड़कें, रेल

की पटड़ी, इत्यादि और (आ) ऐसे यन्त्र जो श्रम-कर्त्ता मनुष्य या पशु का स्थान ग्रहण करने के लिए, अर्थात् मजदूर या पशु की संख्या घटाने के लिए, अथवा मजदूरों की बुद्धि-चातुरी या शरीर-बल का उपयोग करने के बदले उनका केवल जीवित यन्त्र के तौर पर इस्तेमाल करने के लिए बनायें जायँ जैसे,—पीसने, कूटने, पीलने की कलें, सूत और कपड़ों की मिल, मोटर, रेलगाड़ी इत्यादि, ट्रेक्टर, भाप या बिजली से चलनेवाले पानी के पम्प, सूक्ष्म श्रम-विभाग के फल-स्वरूप बने यन्त्र इत्यादि।

२. पहले प्रकार के यान्त्रिक साधन तथा उनके सुधार सामान्यत: इष्ट हैं। इनसे भी मजदूर और पशु की संख्या घट सकती है; परन्तु वह कम से कम घटेगी।

३. दूसरे प्रकार के यान्त्रिक साधनों और सुधारों का उपयोग करने में विवेक और सावधानी रखनी चाहिए। अर्थात् ऐसे साधनों और सुधारों का कौन कितना उपयोग करे इसपर प्रजाकीय सरकार का वैसा ही अंकुश रहना चाहिए जैसा कि शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद बनाने तथा इस्तेमाल करने पर होता है।

४. दूसरे प्रकार के यन्त्रों का व्यवहार किन दशाओं में बुरा नहीं हो सकता उसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(अ) जहाँ काम बहुत और करनेवाले थोड़े हों और अधिक आदमी न प्राप्त किये जा सकते हों, न रक्खे जा सकते हों, जैसे कि जहाज पर।

(आ) जहाँ आकस्मिक कठिनाई से अथवा दूसरे कारणों से काम

का प्रकार ही ऐसा हो कि उसे जल्दी-से-जल्दी करना पड़ता हो और यदि यान्त्रिक साधनों के एवज में अधिक आदमी इकट्ठा करने लगें तो अव्यवस्था, ढील और जोखम बढ़ने की सम्भावना हो—जैसे, आग बुझाना, अकाल या अन्य प्राकृतिक कोपों से लोगों की रक्षा करना, अथवा अनाज आदि की सहायता पहुँचाना।

(इ) ऐसे यन्त्र और उनके सुधार जो सहयोगी धन्धा दे सकते हों अथवा उसे और अच्छी स्थिति में ला देते हों, किन्तु फिर भी उसके सहयोगीपन को नष्ट न करते हों, जैसेकि, अधिक सूत देनेवाला चरखा, रस्सी बँटने का चक्र, इत्यादि।

(ई) पहले प्रकार के कल-पुर्जे बनाने के यन्त्र, औज़ार आदि बनाना, और उनमें खास करके वहाँ जहाँ एक ही माप और एक ही ढंग के यन्त्र अथवा उनके पुर्जे बनाने का महत्त्व हो;

(उ) जहाँ बिल्कुल सही काम देनेवाले नाज़ुक साधनों की आवश्यकता हो—जैसेकि घड़ी, टाइप राइटर, प्रयोगशाला के साधन आदि के बनाने में;

(ऊ) ऐसी वस्तुओं के बनाने में जिनमें ज्यादा लोगों की कभी ज़रूरत न हो परन्तु जिनका उपयोग सार्वजनिक हो; जैसे पानी के नल, मिट्टी के घड़े और काच के घरेलू बरतन इत्यादि।

(ए) खानगी साहस से नहीं, बल्कि राज्य की ओर से अथवा उसके नियन्त्रण में चलनेवाले उद्योगों में—जैसेकि रेलगाड़ी, जहाज़, महत्त्वपूर्ण खानें, मिट्टी के तेल के कुएँ आदि में।

५. जिस दरजे तक दूसरे प्रकार के यान्त्रिक साधनोंवाले उद्योग-धन्धे आवश्यक समझे गये हों उस दरजे तक तत्सम्बन्धी कारखाने भी आवश्यक समझे जा सकते हैं, जैसेकि लोहे, औज़ार, साँचे, कांच, बिजली इत्यादि के अथवा तत्सम्बन्धी साधन बनाने के कारखाने।

: ११ :

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

१. जो चीजें हमारे देश में न बनती हों, बनाने के लिए कुदरती अनुकूलतायें भी न हों, अथवा ऐसी हों कि जो महा कष्ट से या दूसरे राष्ट्रवालों की भारी हिंसा करके ही उत्पन्न की जा सकती हों, जिन्हें बनाने की तरकीब उन लोगों ने बड़े परिश्रम से जानी हो और उससे हुई आमदनी पर उनका जीवन बहुत-कुछ अवलंबित हो, जीवन में जिनका इतना महत्त्व-पूर्ण उपयोग न हो कि उसके बिना करोड़ों लोगों का जीवन असम्भव बनता हो अथवा महत्त्व-पूर्ण उपयोग होने पर भी नित्य जीवन में उनका उपयोग न हो और समान्य लोगों का जीवन उनके बिना भी चलता हो तो ऐसी चीजों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हो सकता है।

२. ऐसे व्यापार को चलाने के लिए किसी प्रकार के बलात्कार, हिंसा, राजनैतिक सत्ता के दबाव इत्यादि से काम न लिया जाना चाहिए।

३. ऐसी वस्तुओं को जैसे भी हो सके स्वदेश में पैदा करने का आग्रह अधर्म भी हो सकता है।

४. प्रयोग-शालाओं में काम आनेवाली कितनी ही चीजें एक्सरे का यन्त्र, विशेष प्रकार की घड़ियाँ, काश्मीरी ऊनी कपड़े, केसर, इलायची, दालचीनी, आदि विशेष प्रकार की बनस्पतियाँ इत्यादि चीजें इस प्रकार की मानी जा सकती हैं।

खण्ड ७ :: उद्योग

: १ :

खेती

१. खेती भारतवर्ष के लिए प्राणस्वरूप धन्धा है। इतनी भयंकर लूट के जारी रहते हुए भी भारतवर्ष जो अभीतक जीवित रहा है उसका कारण यही है कि वह भोजन के मामलों में अभी परावलम्बी नहीं बना है। परन्तु यह नहीं कह सकते कि यह स्वावलंबन भी अब खतरे में नहीं है।

२. भारत की वर्तमान आर्थिक और राजकीय नीति खेती के उद्योग को नष्ट कर रही है। उसके फल-स्वरूप खेती आज मुनाफ़े का धन्धा नहीं रह गई है।

३. ब्रिटिश शासन-तंत्र में यह क़ानून द्वारा निश्चित कर दिया गया है कि जमीन पर पहला बोझा कर का है। स्वराज्य में इससे उलटा होना चाहिए। अर्थात् खेती की आबादी राज्य पर पहला बोझा होना चाहिए और तमाम कर इस तरह से लगाये और वसूल किये जाने चाहिए कि जिससे खेती को हानि न पहुँचे।

४. स्वराज्य की आर्थिक नीति इस तरह बनाई जानी चाहिए कि जिससे देश के लिए आवश्यक धान्य का संग्रह रहा करे।

५. हिन्दुस्तान में फल के पेड़ों की परवरिश पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया गया है। स्वराज्य में इस विषय पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

६. खेती की बेहबूदी के लिए गोचर-भूमि की सुविधा भी आवश्यक है। खेती तथा जंगल-विभाग की नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे लोग पशु अच्छी तरह रख सकें और पशुओं के खाने के लिए खास क़िस्म के चारों की खेती भी होनी चाहिए।

७. खेती तथा दूसरे तमाम उद्योगों के विषय में उद्यम की वर्तमान दृष्टि ही ग़लत है। यदि मनुष्य को यह चिन्ता न हो कि कर, लगान, क़र्ज़ आदि देना है, तो वह अपने उद्यम से जिन चीज़ों को पैदा करता है या बनाता है उनमें वह यह दृष्टि न रक्खेगा कि अधिक-से-अधिक दाम कैसे वसूल किया जाय; बल्कि इस दृष्टि से उद्यम करेगा कि उसे, उसके कुटुम्ब को अथवा उसके ग्राम या समाज को किस चीज़ की कितनी ज़रूरत होगी।

८. इस तरह वह इस बात की पहले चिन्ता रक्खेगा कि उसके पास धान्य और घास यथेष्ट मात्रा में रहे; ऊँचे भावों पर दृष्टि रखकर रुई, तिलहन, तम्बाकू आदि का ढेर पैदा करने की झंझट में न पड़ेगा।

९. ऊँचे भाव पाने के लोभ से होनेवाली व्यापारिक खेती से किसान को अन्त में जाकर अधिक लाभ नहीं होता है। एक तरफ़ से जो रुपया आता है वह दूसरी तरफ़ से चला जाता है। बल्कि

इससे उलटी नैतिक हानि बहुत ही होती है। यह विचार करने की कर्त्तव्य-बुद्धि ही नष्ट हो जाती है कि वह जो खेती करता है उससे उसके तथा दूसरे राष्ट्र की शारीरिक, मानसिक और नैतिक हानि कितनी होती है। तम्बाकू, अफ़ीम आदि की खेती इसके नमूने हैं।

: २ :

सहयोगी उद्योग

१. हिन्दुस्तान में खेती बहुतेरे क़ुदरती खतरों के अधीन है। उनसे बचने के उपाय करते रहने पर भी बहुलांश में ऐसी ही स्थिति बनी रहेगी। फिर यह बारहों महीनों का धन्धा नहीं हो सकती। खेती के मौसिम में भी लगातार मिहनत नहीं करनी पड़ती। बीच-बीच में बहुतेरे आदमियों के एक-साथ काम करने की जरूरत पड़ती है और बाक़ी के दिनों में मालिक और उसके घर के लोग बेकार रहते हैं। इस कारण भारत में खेती और उद्योग-धन्धे एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। बल्कि खेती के ही साथ कोई-न-कोई सहयोगी धन्धा अवश्य होना चाहिए।

२. उस सहयोगी धन्धे में नीचे लिखी अनुकूलतायें होनी चाहिएँ—

(अ) वे मुख्य धन्धे (अर्थात् खेती) के अनुकूल होना चाहिएं—
ऐसा न होना चाहिए कि उसके लिए खेती को बिगाड़ना पड़े।

(आ) इस कारण यह धन्धा ऐसा होना चाहिए कि मुख्य धन्धे के लिए मजदूरी की जरूरत पड़ते ही वह बन्द किया जा सके

और फिर भी उससे नुक़सान न हो अथवा ख़ासतौर पर ध्यान दिये बिना भी उसका काम चलता रहे।

(इ) इसके अलावा यह धन्धा नौकरी के तौर पर चलनेवाला नहीं, बल्कि स्वतन्त्र रूप से मजूरी पर चलनेवाला होना चाहिए।

(ई) फिर, इसी कारण से, उसमें यन्त्र अथवा माल के लिए इतनी पूँजी की आवश्यकता न होनी चाहिए कि जो निर्धन देश के लोगों की सामर्थ्य के बाहर हो।

(उ) ऐसा होना चाहिए कि जो खेत के नजदीक हो, अर्थात् अपने घर या गाँव में ही किया जा सके।

(ऊ) यदि यह धन्धा करोड़ों के लिए हो तो, ऐसा होना चाहिए कि जिससे उसका माल आसानी से खप सके अर्थात् वह वस्तु ऐसी होनी चाहिए जो सार्वजनिक आवश्यकता की हो।

(ए) उसी तरह, करोड़ों की दृष्टि से, इस धन्धे की व्यवस्था करने के लिए, अपेक्षाकृत तेजी से, सरलता से और थोड़े खर्च में उसका तन्त्र खड़ा हो सकना चाहिए।

(ऐ) फिर, करोड़ों की दृष्टि से, वह ऐसा होना चाहिए जिससे अपढ़, थोड़ी बुद्धि रखनेवाले, कमजोर और छोटे-बड़े सब तरह के मनुष्य उसे कर सकें।

(ओ) फिर भी वह ऐसा न होना चाहिए कि जिससे, कारखाने की तरह, वह मनुष्य को काम करने में जड़यन्त्र की तरह, आनन्दरहित और रसहीन बना दे और काम करने के बाद थका दे और जी उबा दे।

३. इन सहयोगी उद्योगों में चरखा और गो-पालन का प्रधान स्थान है। ये दोनों उद्योग प्राचीन काल से खेती के साथ ही लगे हुए हैं और दीर्घ-कालीन अनुभव की कसौटी पर कसे जा चुके हैं।

४. जिस तरह तार, डाक, रेल अखिल भारतीय विभाग समझे जाते हैं, उसी तरह चरखे और गो-पालन का महत्व अखिल भारतीय है। यही ऐसे धन्धे हैं जिनमें, बड़े पैमाने पर, अधिक से अधिक लोगों को आसानी और सुविधा से काम दिया जा सकता है।

५. इन दोनों धंधों का विशेष विचार पृथक् प्रकरणों में होगा, परन्तु गो-पालन की अपेक्षा चरखे का महत्व अधिक है; क्योंकि गो-पालन में तो फिर भी थोड़ी-बहुत जमीन और पूँजी की आवश्यकता रहती है, इसलिए यह उन्हीं किसानों का 'सहयोगी धंधा' बन सकता है जिनके पास निज की जमीन हो; परन्तु उन लाखों लोगों के अनुकूल नहीं है जो केवल खेती की मजूरी पर ही अपनी गुजर करते हों। फिर, गो-पालन खेती के अलावा स्वतन्त्र धन्धा भी हो सकता है और चरखा इन दोनों के साथ चल सकता है; इसी तरह गो-पालन और चरखा दोनों एकसाथ किसान के सहयोगी धंधे भी हो सकते हैं।

६. चरखे पर जो इतना जोर दिया गया है उसका आशय यह नहीं है कि उसके अलावा दूसरा कोई सहयोगी धंधा न होना चाहिए। यदि स्थानिक परिस्थिति अनुकूल हो और चरखे से अधिक आमदनी देनेवाला सहयोगी धंधा वहाँ चल सकता हो तो चरखे के साथ अथवा अलावा उसके लिए भी जगह है; स्थानिक

राजतन्त्र या प्रजातन्त्र का कर्त्तव्य है कि उसपर ध्यान दे और उसका विकास करे।

७. इस विषय में आमतौर पर यह कहा जा सकता है कि जिस गाँव में जो कच्चा माल पैदा होता है उसे जमा करने, बेचने और काम में लाने लायक़ बनाने के लिए जिन क्रियाओं की ज़रूरत हो वे भी वहीं अर्थात् कच्चा माल पैदा करनेवाले के यहीं होनी चाहिए। जैसे—विदेश अथवा शहर में धान नहीं जाता, चावल जाते हैं और वही खाने में काम आ सकते हैं। गेहूँ के स्थान पर आटा भी बड़ी मात्रा में जाता है और उसकी बनी रोटी, बिस्कुट आदि की खपत भी अच्छी है; गन्ने का गुड़ या शक्कर ही काम आती है, तिलहन का तेल ही इस्तेमाल होता है, कपास का उपयोग कपड़े के द्वारा ही होता है। चमड़ा कमाकर उसकी तरह-तरह की चीज़ें ही काम आती हैं। इसलिए धान कूटने के, आटा पीसने के, रोटी-बिस्कुट बनाने के, गुड़-शक्कर बनाने के, तेल पेरने के, बुनने के, चमार तथा मोची काम वग़ैरा के धंधे देहात में ही चलने चाहिएँ और ये किसान या ग्रामवासी के सहयोगी उद्योग हो सकते हैं। और भी ऐसे धंधों के उदाहरण दिये जा सकते हैं।

८. ऐसे धन्धे सहयोगी उद्योग के तौर पर चलें तो उससे किसानों को बहुत तरह के लाभ हो सकते हैं—जैसे धान की भूसी, गेहूँ का चोकर, गन्ने के छिलके और पत्ते, तिलहन की खली, बिनौले, ख़राब सूत वग़ैरा जोकि पशुओं के या खाद के काम आ जाते हैं, अथवा उसके द्वारा दूसरा धन्धा भी हो सकता है।

: ३ :

'सौदेका स्वदेशी'

१. स्वदेशी माल को प्रोत्साहन देने की जरूरत है। स्वदेशी धर्म के पालन में ही यह बात आजाती है। परन्तु स्वदेशी माल को प्रोत्साहन देने के हेतु से जो आन्दोलन किया जाता है उसमें बहुत विवेक से काम लेने की जरूरत है।

२. ऐसे विवेक के अभाव में स्वदेशी के नाम से एक प्रकार का पाखण्ड जान-अनजान में चलता है जिसमें बहुतेरे कार्यकर्त्ताओं की शक्ति व्यर्थ जाती है और आत्मप्रतारणा भी होती है।

३. जिन चीजों के प्रचार के लिए खास सहायता करने की या विज्ञापन करने की जरूरत नहीं है उनकी प्रदर्शनी करने की जरूरत सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के लिए नहीं है क्योंकि इससे भाव ऊँचे हो जाते हैं और एक-दूसरे के साथ स्पर्धा चाहनेवाले दुकानदारों में अनिष्ट तना-तनी बढ़ जाती है।

४. जैसेकि कपड़े की, शक्कर की या चावल की मिलों को ऐसी सहायता की जरूरत नहीं मानी जा सकती। यही न्याय बहुतांश में कागज की देशी मिलें, तेल की मिलें, विलायती दवाओं के देशी कारखाने, साबुन के कारखाने, दन्त-मञ्जन, ब्रश वगैरा के कारखाने, चमड़े के बड़े कारखाने वगैरा पर लागू पड़ता है।

५. इसका अर्थ यह नहीं कि विदेशी कपड़ा, शक्कर, चावल, कागज, तेल, दवाएँ, साबुन, दन्त-मञ्जन, ब्रश आदि इस्तैमाल करने में आपत्ति नहीं है। यदि विदेशी वस्तुओं के मुकाबले में

खड़े रहने की शक्ति इन स्वदेशी चीजें को न हो तो इन्हें पूरी-पूरी मदद मिलनी चाहिए और जिन्हें ऐसी ही चीजें इस्तैमाल करनी हैं उन्हें इन्हींको पसन्द करना चाहिए।

६. परन्तु जिन चीजों के लिए आज स्वदेशी आन्दोलन की ज़रूरत है वे यह नहीं है। जरूरत तो आज ग्राम-उद्योगों को रक्षण देने की है अर्थात् खादी, गुड़, खाँड़, हाथकुटे चावल, देहाती काग़ज़, घानी का तेल, देहाती मसाले, अरीठा, सीकाकई, दतौन, देहाती झाड़ू, चटाई, टोकरियाँ, रस्सी, जाजम, चमड़े की चीज़ों, आदि सैंकड़ों देहात के उद्योग जो प्रोत्साहन के अभाव में मर गये हैं या मृतवत् जीवित हैं; उन्हें सजीवन करने की है।

७. इस बारे में शहरातियों और शिक्षितों ने देहात के प्रति अक्षम्य लापरवाही की है।

८. कुछ वर्ष पहले देहाती लोग अपने रोजमर्रा के इस्तैमाल की अनेक चीजें ख़ुद बना लेते थे। यही नहीं बल्कि छोटे क़स्बातियों की रोज़मर्रा की ऐसी बहुत सी चीजें थीं जिनका आधार वे ग्राम वासियों पर रखते थे। उनके बदले अब वे चीजें शहरों से व विदेशों से मंगाते हैं। जो उद्योग देहातियों के बाप-दादा पुश्त-दरपुश्त करते आते थे, वे बन्द हो गये हैं। परन्तु शहरातियों और पढ़े-लिखे लोगों ने इसके बारे में कुछ भी चिन्ता नहीं की।

९. इस कारण आज का देहाती ग्रामवासी कंगाल, परावलम्बी और बेहदी बन गया है। पचास साल पहले के देहाती की आधी भी बुद्धि या जानकारी उसे नहीं रही। देहाती कारीगर भी दूसरे देहातियों की तरह अबुद्धि और अज्ञान का शिकार हो गया है।

१०. जिस तरह देहाती अपने फुरसत का तमाम समय उपयोगी काम में लगाने का निश्चय करेगा और शहराती देहात की बनी चीजें लेने का संकल्प करेगा उसी तरह देहाती और शहराती का सम्बन्ध जो आज टूट गया है वह वापिस जुड़ जायगा।

११. इस काम में देश-भक्तों की एक बड़ी सेना लग सकती है। जितने स्वदेशी-संघ काम कर रहे हैं वे काफी नहीं हैं और भी अधिक काम के लिए विशाल क्षेत्र खाली पड़ा है। इसके लिए अगणित उद्योगों के विषय में सही जानकारी प्राप्त करना, खोज करना, अनेक प्रकार के कारीगरों के हित में दिलचस्पी लेना जरूरी है। इससे उन अनेक लोगों को जो आज बिना धन्धे के भूखों मर रहे हैं, ईमानदारी और इज्जत का काम करके गुजारा करने का जरिया मिल जायगा।

१२. यही सच्ची सफल और 'सौटका स्वदेशी' है।

: ४ :

विशेष उद्योग

१. समाज का निर्वाह, समृद्धि और उन्नति अच्छी तरह हो, इसके लिए खेती और वस्त्र के धन्धों के उपरान्त दूसरे भी अनेक धन्धों की जरूरत रहती है। जैसेकि धातु, कोयला, मिट्टी का तेल इत्यादि खानों तथा खनिज पदार्थों से एवं नमक, मछली इत्यादि सामुद्रिक तथा लकड़ी, लाख, रबर, वनस्पति इत्यादि जंगली पदार्थों से सम्बन्ध रखनेवाले।

२. यद्यपि ये धन्धे जीवन-निर्वाह के लिए उतने ही अनिवार्य

नहीं हैं जितने कि खेती और वस्त्र-सम्बन्धी धन्धे हैं, फिर भी ये ऐसे उद्योग हैं जिनकी उपेक्षा वर्तमान सामाजिक जीवन में नहीं की जा सकती।

३. यद्यपि इन उद्योगों में जनता का अधिकांश भाग नहीं लग जाता, तथापि इनसे बननेवाली वस्तुओं की हरेक के लिए आवश्यकता पड़ती है; अतएव इनके उपभोग के लिहाज़ से इन उद्योगों में समस्त जनता का स्वार्थ है।

४. ऐसे उद्योग सारे देश में नहीं चलते, बल्कि स्थानिक ही होते हैं।

५. इनमें, मछली पकड़ने के और नमक बनाने के धंधे खेती और चरखे की कोटि के हैं। उनके सम्बन्ध में आर्थिक नीति वैसी ही होनी चाहिए, जैसी कि खेती या चरखे के विषय में हो। जैसे सूत कातना प्रत्येक किसान का हक़ समझा जाय वैसे ही नमक बनाना समुद्र-तटस्थ प्रत्येक व्यक्ति का हक़ समझना चाहिए।

६. ये पूर्वोक्त दूसरे धन्धे, अधिकांश में, बड़ी पूँजी, विशेषज्ञता, सुप्रबन्ध, विशाल-रूप, इत्यादि की अपेक्षा रखते हैं। ऐसे धन्धे चाहे व्यक्तिगत साहस से चलें, चाहे राज्य की सीधी देख-भाल में चलें, इनपर राज्य का, नीचे लिखे अनुसार, अंकुश होना चाहिए—

(अ) इनमें जो चीज़ें सार्वजनिक उपयोग के योग्य बनती हों उन की क़ीमत लोगों के लिए अधिक-से-अधिक सस्ती होनी चाहिए;

(आ) इन चीजों की बनावट अच्छी-से-अच्छी और मजबूत होनी चाहिए;

(इ) यदि ये धन्धे खानगी साहस से चलते हों तो उनके मुनाफे और क़ीमत पर राज्य का अंकुश होना चाहिए;

(ई) इनमें काम करनेवाले मजदूरों की सुख-सुविधा की राज्य को खास तौर पर चिन्ता रखनी चाहिए;

(उ) इनमें से जो उद्योग छोटे पैमाने पर और थोड़ी पूँजी से तथा गृह-उद्योग के तौर पर चल सकें उन्हें विशाल उद्योग का स्वरूप देते समय ऐसी मर्यादा रखनी चाहिए कि उसके बड़े-बड़े कल-कारखानों से गृह-उद्योग का नाश न हो जाय; तथा बड़े कारखानों में उन चीजों के बनाने की मनाई होनी चाहिए, जो गृह-उद्योगों में बन सकती हों।

७. कपड़े के कारखानों पर भी, जबतक वे चलें, यही नियम लागू होना चाहिए।

:५:

हानिकारक उद्योग

१. जो उद्योग लोगों के नीति, सदाचार तथा स्वास्थ्य के लिए नाशक हों—जैसेकि, शराब, ताड़ी, अफ़ीम, भाँग, गाँजा, तम्बाकू, गोला-बारूद, शस्त्र-सम्बन्धी आदि, उन्हें राज्य खानगी तौर पर न चलने दें अथवा यदि चलें तो उनपर राज्य का कड़ा अंकुश होना चाहिए।

२. उनको जारी करने में राज्य की नीति उनसे आय करने की

न होनी चाहिए, बल्कि यह दृष्टि होनी चाहिए कि वैद्यक अथवा दूसरे कारण से उन वस्तुओं की जितनी आवश्यकता हो उतनी ही उनकी उत्पत्ति की जाय और उन्हें लोगों तक पहुँचाया जाय।

३. ऐसे पदार्थों का व्यापार देशान्तरों में वहाँ के राज्य की इच्छा के अनुसार ही होने देना चाहिए।

: ६ :

उपयोगी धन्धे

१. सामाजिक जीवन में उद्योगों के उपरान्त भी कितने ही उपयोगी काम करनेवालों की जरूरत होती है, जैसेकि शिक्षक, सिपाही, वकील, न्यायाधीश, अधिकारी, डाक्टर, दूकानदार, सफैये (भंगी आदि), कारकुन, इत्यादि।

२. ये लोग प्रत्यक्ष रूप से तो किसी उपभोग्य पदार्थ को उत्पन्न नहीं करते हैं, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उनकी उत्पत्ति तथा उपभोग में और अनर्थकारी पदार्थों की समुचित व्यवस्था करने में उनकी सहायता की जरूरत होती है।

३. इन पेशेवरों के निर्वाह के लिए समाज पर जो बोझ पड़ता है उसे व्यवस्था-खर्च कह सकते हैं। इसलिए इन पेशेवरों की संख्या और उनके लिए होनेवाला व्यवस्था-खर्च, जन-संख्या और देश की समृद्धि के लिहाज से मर्यादित होना चाहिए।

४. ये काम सेवा की भावना से होने चाहिएँ—धन कमाने या श्रीमंत बन जाने के उद्देश्य से नहीं। इसलिए एक ओर इन लोगों को समाज की स्थिति और समृद्धि की मर्यादा के अनुसार इतना

स्थिर मिहनताना देकर निश्चिन्त कर देना चाहिए कि जिससे वे जीवन-निर्वाह कर सकें। और दूसरी ओर उन्हें भी चाहिए कि उतने पर सन्तोष मानें एवं इसके अलावा दूसरी आमदनी न करें और समाज को अधिक से अधिक लाभ पहुँचावें।

५. ऐसी मर्यादा में रहकर यदि ये काम किये जायँ तो ये समाज के सर्वोदय में सहायक होंगे और इनमें पड़ने के लिए अनुचित लालसाओं तथा उनकी पूर्ति के लिए की जानेवाली कुटिल युक्तियों की आवश्यकता न रहेगी।

६. जो धन एकत्र करना चाहते हैं, ज़मीन, मकान, गहनों की जिन्हें इच्छा है, जो इनका विस्तार बढ़ाना चाहते हैं, उनके लिए उद्योग ही आकर्षक द्वार होना चाहिए और उद्योगों में इनके लिए गुञ्जायश भी होनी चाहिए। परन्तु उनकी आमदनी या मुनाफे की मर्यादा ऐसी होनी चाहिए कि जिससे वे धन्धे उन्हें अनुकूल न प्रतीत हों।

७. इसके विपरीत जो मर्यादित परन्तु स्थिर और निश्चिन्त जीविका प्राप्त करना चाहते हैं, और सेवा करना चाहते हैं, उनके लिए इन धन्धों का द्वार खुला रहना चाहिए। इससे इन धन्धों में प्रवेश करने के लिए उनमें आवश्यक ज्ञान के अतिरिक्त चरित्र की भी उच्चता होनी चाहिए।

: ७ :

ललित कलायें

१ संगीत, कथा-वार्ता, चित्र-कला, नृत्य, नाटक, सिनेमा, आदि ललित कलायें यदि उचित मर्यादा में रहें तो वे लोगों के निर्दोष मनोरञ्जन, ज्ञानप्राप्ति तथा भावना-विकास के साधन बन सकती हैं, यदि ये मर्यादा छोड़ दें तो शराब, अफ़ीम, जैसे हानिकर व्यसन हो जायँगी।

२. आमतौर पर ऐसी कलाओं को जीविका का पेशा न बनाना चाहिए, बल्कि प्रत्येक मनुष्य को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वह अपनी जीविका के धंधे के उपरान्त ऐसी किसी कला में दिलचस्पी लेसके।

३. इस कारण, सर्व-साधारण के मनोरञ्जन के लिए, ऐसी कलाओं के प्रदर्शन, या जलसों की व्यवस्था होनी चाहिए सो भी लोगों के उत्साह से ही और ग़ैर-पेशेवर लोगों की मंडलियाँ बनाकर।

४. ऐसी कलाओं का शौक़ अमर्याद, अनीति की तरफ ले जानेवाला तथा हानिकर न हो जाय, इसके लिए ऐसे प्रदर्शनों और जल्सों पर अंकुश और देख-भाल होनी चाहिए।

५. ये नियम तो पथ-प्रदर्शन के लिए बताये गये हैं। सम्भव है कि इन कलाओं के द्वारा जीविका उपार्जन करने की मनाई करना व्यावहारिक और हितकर न हो। इसलिए ग्राम-पञ्चायतों को उचित है कि वे जहाँ-जहाँ हो सके ऐसी तजवीज़ करें कि इन

कलाओं का निर्दोष, ज्ञानप्रद और सद्भावपोषक उपभोग लोग लेसकें और पिछले प्रकरण में उपयोगी धंधों के सम्बन्ध में सूचित किये, अनुसार उनका कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे समृद्धि की मर्यादा में रहकर ऐसे पेशेवरों की निश्चित जीविका बाँध दें, और इस प्रकरण में की गई सूचना के अनुसार सुचरित्र कलाविद् प्राप्त करें।

६. जो लोग स्वतन्त्रता-पूर्वक ऐसे धंधे करना चाहते हैं उनपर नीति का नियमन होना चाहिए, और उसके अतिरिक्त परवाने तथा खास कर इत्यादि की भी क़ैद हो सकती है।

७. ऐसी कलाओं की उचित पुष्टि और वृद्धि के लिए राज्य की ओर से, सुविधा देखकर, उनके विशेषज्ञों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए, बशर्तेकि इसमें तारतम्य का भंग न हो।

८. जो कारीगर अपने धंधे में कला-कौशल दिखावे, वह उत्तेजना देने योग्य समझा जाय और इस तरह कला की उन्नति की ओर राज्य को सबसे पहले ध्यान देना चाहिए।

खण्ड ८ :: गो-पालन

: १ :

धार्मिक दृष्टि

१. हिन्दू-धर्म में गो-पालन को धार्मिक महत्त्व दिया गया है और गो-वध महापाप माना गया है एवं गो-रक्षा राजाओं और वैश्यों का एक विशेष कर्त्तव्य बताया गया है। इस कारण गो-रक्षा के लिए लाखों रुपयों का दान दिया जाता है है; फिर भी, उचित दृष्टि के अभाव से,आज भारत में, गो-भक्षक देशों की अपेक्षा भी, पशुओं की दशा अधिक दया-जनक है।

२. गो-पालन-सम्बन्धी धार्मिक दृष्टि में नीचे लिखे अनुसार विकास होने की आवश्यकता है—

(अ) गो-पालन का क्षेत्र सिर्फ इतना ही नहीं है कि अपंग और अशक्त पशुओं का ही पालन किया जाय; बल्कि गाय और बैल की क़िस्मों को सुधार कर गाय का सत्व और दूध बढ़ाना एवं बैल की क़िस्म सुधारना भी गो-पालन-धर्म में सम्मिलित है।

(आ) इस कारण पींजरापोलें ऐसी आदर्श गो-शालायें होनी चाहिएँ, जो लोगों को गो-पालन का पदार्थ-पाठ दे सकें। उनके ऐब, उनको घास, दाना इत्यादि देने का तरीक़ा और परिणामों का विचार इत्यादि में शास्त्रीय—वैज्ञानिक—सावधानी और निश्चितता तथा अध्ययन से काम लेना चाहिए।

(इ) पशुओं की नसल सुधारने के लिए पींजरापोलों की तरफ़ से साँडों का पालन इस तरह होना चाहिए कि जिससे गाँव के लोगों को पूरा-पूरा लाभ मिले।

(ई) पींजरापोलों में चर्मालय-विभाग भी होना चाहिए और मरे ढोरों के हाड़-माँस तथा चमड़ों के उद्योग के प्रति घृणा-दृष्टि रखने के बदले कर्त्तव्य-दृष्टि होनी चाहिए। यह समझ लेना चाहिए कि जो मालिक मरे पशुओं के हाड-माँस तथा चमड़े का उपयोग* नहीं होने देता है वह उनकी हत्या को प्रोत्साहित करता है और, इसलिए, जीव-दया-धर्मी को उचित है कि वह मरे पशुओं के हाड-माँस तथा चमड़े का ही इस्तैमाल करने का आग्रह रक्खे।

(उ) जीवित पशु की अपेक्षा क़त्ल किये गये पशु का अधिक क़ीमती माना जाना धार्मिक-दृष्टि से भयानक है, यह जानकर जीवित पशुओं के आर्थिक महत्व बढ़ाने का यत्न करना धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाना चाहिए।

---

*हाड-माँस के इस्तैमाल का अर्थ 'खाने के लिए' न किया जाय। आशय सिर्फ़ उनका खाद तथा दूसरी उपयोगी चीजें बनाने से है।—लेखक

(ऊ) बैल को बधिया करना अनिवार्य है—ऐसा समझकर बधिया करने की दुःख-रहित शास्त्रीय पद्धति को जानना और पींजरापोलों में उसकी योजना करना चाहिए।

(ए) जब प्राणी को ऐसा कष्ट होता हो कि उसके अपंग और असहाय हो जाने पर भी उसके बचने की आशा न हो और सिर्फ वेदना का समय ही बढ़ता हो तो, उसके प्राण छुड़वाने का दुःख-हीन उपाय करना दया-धर्म है—इस विचार को स्वीकार कर लेना चाहिए।

: २ :

अन्य प्राणियों का पालन

१. यह सच है कि गो शब्द में आमतौर पर समस्त प्राणियों का समावेश होता है; फिर भी उसके व्यवहार में अहिंसा की दृष्टि से भी कितनी ही बातों में विवेक से काम लेने की जरूरत है। बिना विवेक से किया गया प्राणियों का पालन अन्त में हिंसा का ही पोषण करता है।

२. ऐसे विवेक के अभाव में भैंस के दूध-घी के उपयोग से गाय और भैंस दोनों की हिंसा की वृद्धि हुई है। इसके कारण ये हैं—

(क) भैंस ठंडक और पानी में रहने वाला प्राणी है। इसलिए उसे गर्म और सूखे प्रदेशों में रखना उसके साथ क्रूरता करना है।

(ख) पाड़ों या भैंसों का कुछ उपयोग नहीं होता, इसलिए उनका वध किया जाता है।

(ग) गाय का पालन बैल के लिए और भैंस का पालन दूध के लिए होने का कारण, भैंस की तरह गाय का पालन लाभदायी नहीं होता और इसलिए गाय के दूध बढ़ाने का उद्योग नहीं होता और उसके क़त्ल को उत्तेजना मिलती है।

३. इस कारण से भैंस के घी-दूध को छोड़कर भैंस का पालना बन्द कर देना उचित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि भैंसों को क़त्ल करा दिया जाय, बल्कि यह है कि भैंसों की बढ़ती रोकी जाय।

४. इसी तरह यदि विवेक के साथ विचार किया जाय, तो गलियों में भटकनेवाले कुत्तों को खिलाना और उसको धर्म समझना ग़लत है। जो लोग कुत्तों के शौक़ीन हों उन्हें चाहिए कि वे उन्हें विधिवत रक्खें और उनका पालन करें—सब तरह उनकी चिन्ता और हिफ़ाजत रक्खें। इसके विपरीत जो कुत्ते गली-गली में मारे फिरते हैं उन्हें खिला-पिला कर उनकी वृद्धि करना न केवल उनकी विडम्बना करना है बल्कि उनकी जातीय अधोगति भी करना है। इसके सिवा उनसे लोगों को जो असुविधा होती है और उनके पागल हो जाने का अंदेशा होता है सो अलग ही।

५. बन्दर, कबूतर, चींटी इत्यादि जीवों को खिलाने का धर्म तो इससे भी अधिक भ्रम-पूर्ण है। जिन प्राणियों का जीवन मनुष्यों पर अवलम्बित नहीं है और जिनका मनुष्य के लिए कुछ उपयोगी नहीं है उनका पालन-पोषण करने में अविचार है। इससे अन्त में अपनी ही कठिनाइयाँ बढ़ती हैं और उन प्राणियों की भी हिंसा होती है।

६. जो लोग जैन अथवा वैष्णवों में प्रचलित प्राणियों के प्रति अहिंसा धर्म को नहीं मानते हैं उनके द्वारा, यदि पूर्वोक्त उपद्रवों के कारण, ऐसे प्राणियों का बार-बार वध हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। ऐसे प्राणियों के वध के लिए बहुतांश में वही लोग जिम्मेदार हैं जो उन्हें खिलाना-पिलाना अपना धर्म समझते हैं और इसलिए उन वध करनेवालों पर उनका रोप आकरण है।

: ३ :

प्राणियों के प्रति क्रूरता

१. प्राणियों को एक झटके में काट डालने की अपेक्षा उनके प्रति क्रूरता का व्यवहार करने में कम हिंसा नहीं है। ऐसी हिंसा हिन्दुओं में खूब होती है।

२. फूँका लगाना, आरी भोंकना, हद से अधिक बोझा लाद देना, पेट-भर घास-दाना न देना, पूँछ मरोड़ना, इधर-उधर भटकने और जहाँ-तहाँ मुँह मारने देना, घायल या रोगी अंगों का इलाज न करना, कमजोर या बेकाम हो जाने पर उन्हें घर से छोड़ देना, क्लेशदायक रीति से बधिया करना आदि तरीके अमानुप और क्रूर हैं।

३. इसके फल-स्वरूप भारतवर्ष के गाय, बैल, भैंस, घोड़े, गधे कुत्ते, बिल्ली इत्यादि सब प्राणी इस तरह दुर्जीवन बिताते हैं कि जिसे देखकर रोमाँच हो जाता है।

: ४ :

गोवध

१. हिन्दुओं की धार्मिक दृष्टि के सन्तोष के ही लिए नहीं, बल्कि भारतवर्ष की आर्थिक दृष्टि से भी गोवध की मनाई होनी चाहिए।

२. परन्तु जबतक ऐसा न हो तबतक हिन्दुओं को धीरज रखकर, समझाने-बुझाने और अपने सेवा-कार्यों से उस वध को रोकने का यत्न करना चाहिए।

३. गोवध को रोकने के लिए मनुष्य-(मुसलमान) वध करना अधर्म है।

४. मुसलमान यदि यह समझकर कि गो-कुशी उनके यहाँ अनिवार्य नहीं है, उसे बन्द करदें तो यह उनका परम सत्कृत्य समझा जायगा। परन्तु यदि वे हिंदुओं की मनोभावनाओं का ही लिहाज करके अपने आप छोड़दें तो यह उनका दूसरे नम्बर का सत्कृत्य होगा।

५. जो शख्स इस तरह जाहिरा तौर पर गो-कुशी करता है अथवा गाय का जुलूस निकालता है कि जिससे हिंदुओं के दिलों को चोट पहुँचे, तो इसे धर्म-कर्म नहीं कह सकते। ऐसा आचरण मना होना चाहिए।

६. जो मुसलमान त्योहार के दिन गाय की क़ुरबानी करते हैं उसकी अपेक्षा वह अंग्रेजी राज्य जो खाने के लिए रोज़ गायें क़त्ल करवाता है, हिन्दूओं का और साथ ही भारतवर्ष का अधिक द्रोह करता है।

: ५ :

मरे ढोर

१. कितने ही लोगों का यह ख़याल बन गया है कि अपना पालतू पशु यदि मर जाय तो उसके हाड़-मांस और चमड़े को काम में लाना अनुदारता है। इससे या तो उस पशु के किसी भी अङ्ग का कोई उपयोग नहीं किया जाता या ढेढ़-चमार ग़लत तौर पर अथवा अधूरा उपयोग करते हैं। वे उसका मांस खाते हैं, उसे घसीटते हुए ले जाते हैं, जिससे चमड़ा छिलकर खराब हो जाता है। हड्डियाँ भी बेकार पड़ी रहती हैं।

२. इस ख़याल को छोड़ने की जरूरत है। पशु जबतक जीता है तबतक उसका अच्छी तरह पालन-पोषण करना और मरने के बाद उसे आदर तथा विधिपूर्वक उठवाकर उचित स्थान पर पहुँचा देना उचित है। यह सोच करके कि प्राणी मरने के बाद भी अनुपयोगी नहीं होता जीते-जी उसके साथ दया का व्यवहार करें और जिस प्रकार जीते जी उसका उपकार ग्रहण किया है उसी प्रकार मरने के बाद भी कृतज्ञ होकर उसके शरीर का उपयोग करने में बुराई नहीं।

३. मरे ढोर का उपयोग यदि न किया जाय तो आर्थिक दृष्टि से वह महँगा ही पड़ता है। नतीजा यह होता है कि पशु-पालन पुसाता नहीं और गो-पालन का धर्म समूचा छूट जाता है।

४. मरे ढोर को घसीटकर ले जाने का रिवाज बुरा है। इससे

चमड़ा छिल जाता है और उसकी क़ीमत कम हो जाती है। इस-लिए या तो उठाकर या गाड़ी में लादकर ले जाना चाहिए।

५. चमड़ा ठीक तरह से उतारकर हाड़-मांस इत्यादि का खाद बना लेना चाहिए। उसकी आँतों से भी कई उपयोगी चीज़ें बनती हैं।

६. इस धन्धे के विकास की बहुत गुञ्जायश है। पढ़े-लिखे लोगों को यह विद्या सीख लेने की बहुत जरूरत है।

खण्ड ६ :: खादी

: १ :
चरखे के गुण

१. सहयोगी उद्योग के रूप में चरखे में जो गुण हैं वे दूसरे किसी भी उद्योग में नहीं हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

(अ) यह सुसाध्य है, तत्काल-साध्य है; क्योंकि—

(१) इसमें किसी बड़े औज़ार की ज़रूरत नहीं होती। कपास घर का और औज़ार भी घरेलू ही।

(२) इसमें न बहुत बुद्धि की ज़रूरत है न बड़ी कुशलता की। अपढ़-कुपढ़ किसान भी इसे सहज ही बना सकता है।

(३) इसमें न भारी मिहनत की ज़रूरत है; स्त्रियाँ भी कात सकती हैं, बच्चे-बूढ़े और बीमार भी कात सकते हैं; और

(४) यह चुना भी जा चुका है।

(आ) कतैये के लिए घर बैठे का धन्धा है, सूत हमेशा बिक सकता है, और ग़रीब के घर में दो पैसे की वृद्धि होती है।

(इ) इसे बारिश की भी जरूरत नहीं; सूखे के समय में यह भूखों का बेली हो जाता है।

(ई) न तो इसमें कोई धार्मिक रुकावट है और न यह ऐसा धन्धा है जिसमें लोगों का दिल न लगे।

(उ) घर बैठे आदमी को काम मिलता है इससे इसमें मिलों के मज़दूरों की तरह घर-बार छोड़कर दूर देश जाने और कुटुम्ब को छिन्न-भिन्न कर डालने का अंदेशा नहीं है।

(ऊ) इस कारण, हिन्दुस्तान की जो ग्राम-पञ्चायतें आज मृतप्राय हो गई हैं उनके पुनरुद्धार की आशा इसमें समाई हुई है।

(ए) किसान की तरह बुनकर का भी काम इसके बिना नहीं चल सकता। जो बुनकर आज भी भारत की आवश्यकता का एक तिहाई कपड़ा बुनते हैं वे किसी दिन, चरखे के अभाव में, बरबाद हुए बिना न रहेंगे।

(ऐ) इसके पुनरुद्धार के साथ ही दूसरे कितने ही धन्धों का उद्धार हो जायगा; बढ़ई, लुहार, पिंजारे, रंगरेज़—सबमें फिर से जीवन आ जायगा।

(ओ) यही एक ऐसी चीज़ है जिसके द्वारा धन के असमान विभाजन में समानता आ सकेगी।

(औ) इसीसे बेकारी मिटेगी। सिर्फ यही नहीं किसान को फ़ुरसत के वक्त काम मिल जायगा, बल्कि आज जो पढ़े-लिखे लोग रोज़ी के लिए इधर-उधर मारे-मारे भटकते हैं उन्हें भी पूरा काम मिल जायगा। इस धन्धे के पुनरुद्धार का कार्य इतना बड़ा है कि इसकी व्यवस्था और सञ्चालन के लिए हज़ारों शिक्षित पुरुषों की आवश्यकता होगी।

२. इसके उपरान्त चरखा जहाँ फिर से जम गया है वहाँ

दूसरे फ़ायदे भी बहुतेरे हुए हैं जोकि उसके गुण बताये जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(अ.) चरखे ने कितने ही लोगों के जीवन और हृदय को बदल दिया है।

(आ.) चरखे की बदौलत शराब-खोरी घटने लगी है और किसान क़र्ज़ से छुटकारा पाने लगे हैं।

(इ.) अकाल में संकट-निवारण के कामों में चरखा सफल साबित हुआ है।

: २ :

चरखे के सम्बन्ध में ग़लत धारणायें

१. चरखे पर जो बहुतेरी टीका-टिप्पणियाँ होती हैं उनका मूल कारण है चरखे के सम्बन्ध में ग़लत धारणायें। नीचे के उत्तरों पर से उनका निवारण किया जाता है—

२. "चरखा मिलों की स्पर्द्धा नहीं करता। मिलों का स्थान चरखा ले ले, यह नहीं चाहा जाता है।"

३. चरखा किसी भी मुख्य धन्धे की जगह नहीं बताया जाता है। "चरखे का उद्देश्य यह नहीं है कि यदि सशक्त मनुष्य को अपनी पूरी शक्ति और पूरे समय के लिए कोई काम मिलता हो तो उससे वह पराङ्मुख किया जाय।" इस कारण उसकी आमदनी की तुलना दूसरे धन्धों की आमदनी से करने में ग़लती होती है।

४. "ऐसा कोई नहीं कहता कि चरखे से ही पेट भरो; दूसरे सब धन्धे छोड़कर चरखा ही चलाते रहो।"

५. "हाँ, चरखे से कुल मिलाकर देश के धन की तो अवश्य वृद्धि होती है; परन्तु उसके द्वारा कोई धनवान होने की आशा रक्खेगा तो पछतावेगा।"

६. "हिन्दुस्तान के किसानों को आज खेती से छः महीने फुरसत रहती है और उनका वह समय फिजूल चला जाता है। इसके फल-स्वरूप बेकारी और दरिद्रता का बड़ा प्रश्न उपस्थित हो गया है। उसका तत्काल फलदायी व्यावहारिक एवं स्थायी इलाज चरखा है। यह दावा चरखावादियों का अवश्य है।"

७. "चरखे द्वारा आमदनी भले ही फूटी कौड़ी के बराबर हो, परन्तु किसान का जहाँ आधा साल फिजूल और बेकार जाता है और उसमें उसे फूटी कौड़ी भी नहीं मिलती एवं उलटा बेकारी की बीमारी गले पड़ जाती है—ये दो बातें यदि न होतीं तो भारत के अर्थशास्त्र में चरखे के लिए कहीं स्थान न होता।"

८. ऊपर जो यह कहा गया है कि चरखे के द्वारा बेकार लोगों को कुछ-न-कुछ रोजी मिल सकती है, यह आत्मसन्तोष के लिए नहीं बल्कि चरखे की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए कहा गया है। सच पूछिये तो क्या चरखे के द्वारा और क्या दूसरी मजदूरी के द्वारा न कुछ आमदनी होने की स्थिति सन्तोष-प्रद नहीं है। इस सम्बन्ध में अधिक विचार छठे प्रकरण में देखिए।

: २ :

खादी और मिल का कपड़ा

१. खादी और मिल में प्रतिस्पर्द्धा न होने देनी चाहिए। और यदि ठीक-ठीक हिसाब लगाया जाय तो वह है भी नहीं।

२. चरखा करोड़ों का गृह-उद्योग है और उनके जीवन का आधार है। यदि मिल का उद्योग इस तरह चलाया जाय, और चलने दिया जाय कि वह चरखे को मिटा दे तो वे चलानेवाले एवं चलने देने वाले जनता-हित का विचार नहीं करते।

३. इस कारण यदि मिलों को रखना ही है तो उनका क्षेत्र चरखे के क्षेत्र से बाहर ही रहना चाहिए। अर्थात् करोड़ों लोग जिस तरह का सूत कात और बुन सकते हैं वैसा कपड़ा बनाने की मनाही मिलों को होनी चाहिए।

४. व्यक्तिगत नहीं, परन्तु राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की दृष्टि से विचार करें तो किसी भी वस्तु की लागत क़ीमत आँकने के लिए सिर्फ उसके माल, पूँजी, और मजदूरी के खर्च का ही विचार न करना चाहिए, बल्कि इस तरह चीजें बनाने से जो बेकारी बढ़ती है और उनके निर्वाह के लिए लोगों पर जो खर्च पड़ता है वह भी उसकी लागत में जोड़ना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करेंगे तो मालूम हो जायगा कि खादी की बनिस्बत मिल का कपड़ा मँहगा पड़ता है। ×

× इस विचार को समझने में श्री ग्रेग की पुस्तक से ली गई नीचे लिखी जानकारी उपयोगी होगी—हाथ-कताई और हाथ-बुनाई के द्वारा एक मनुष्य जितना सूत कातता और कपड़ा बुनता है उससे मिल में (१६२६ ई०की गिनती के अनुसार) फी घण्टा २०३ से २३६ गुना और बुनाई २० गुना अधिक होती है। अर्थात् दोनों एक-समान घण्टे काम करें तो सूत की मिल का मजदूर २०० से अधिक कतैयों को और बुनकर २० हाथ-बुनकरों को बेकार बनाता है। इनमें से ३/४ बेकार भी यदि दूसरे कामों में लग जायं, ऐसा मान लें तो भी २६७॥ लाख मनुष्यों की

५. यदि राजतन्त्र प्रजाहितकारी ही हो तो मिल को खादी के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने की व्यवस्था तबतक नहीं चलने देगा जबतक बेकारी मिटाने का कोई पक्का प्रबन्ध न हो जाय।

६. जबतक ऐसा तन्त्र न हो तबतक ग़रीब लोगों के प्रति सहानुभूति रखकर लोगों को चाहिए कि वे मिल के ऐसे धन्धों को रोकें।

७. मिल की इस हानिकारक प्रतिस्पर्द्धा को रोकने के अहिंसात्मक उपाय यह हैं—विदेशी वस्त्र का तथा उन देशी मिलों का बहिष्कार जो खादी के क्षेत्र में उतर आई हैं, धरना, खादी पहनने की प्रतिज्ञा, खादी के लिए दान, तथा तदर्थ कताई।

३ आना के हिसाब से मज़दूरी का नुकसान होता है। इनके निर्वाह का खर्च यदि विदेशी और स्वदेशी मिलों के कपड़े पर चढ़ाया जाय तो फी बार १॥। आना, और सिर्फ़ विदेशी कपड़े पर चढ़ावें तो ६ आना २ पाई कीमत उस कपड़े की बढ़ जाय। १९२६ को गिनती के अनुसार भी खादी और मिल के कपड़े की कीमत में २ आने का ही फ़र्क था। आज तो इससे भी कम है। यदि सरकार प्रजासत्ताक हो तो इन बेकारों का निर्वाह-खर्च कपड़े की मिलों से प्रत्यक्ष करके रूप में वसूल किया जाय। और फिर यह स्पष्ट ही मालूम हो जाय कि मिल का कपड़ा सस्ता नहीं है। आज इस खर्च को लोग परोक्ष रीति से देते हैं और इस कारण कपड़े के बाज़ार-भाव में वह दिखाई नहीं देता। अधिक विस्तार के लिए पाठकों को श्री ग्रेग की पुस्तक ही पढ़ना चाहिए। —लेखक

इसका हिन्दी अनुवाद 'खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र' सस्ता साहित्य-मण्डल से प्रकाशित हुआ है। —अनुवादक

: ४ :

चरखा और हाथ-करघा

१. चरखा कातने के बदले सिर्फ हाथ-बुनाई को ही उत्तेजना देना और मिल के सूत का नहीं, बल्कि सिर्फ मिल-बुनाई का ही बहिष्कार करना, यह विचार चरखे-सम्बन्धी ना-समझी से पैदा होता है, क्योंकि—

२. "जिस तरह हाथ-कताई का उद्योग सार्वत्रिक हो सकता है, उस प्रकार हाथ-बुनाई का नहीं हो सकता। ×

३. ऐसे विचार वालों के ध्यान में यह सूक्ष्म भेद नहीं आता कि चरखा तो मह-उद्योग ही हो सकता है, और बुनाई स्वतंत्र पेशा ही हो सकता है।

४. यदि क़ानून के द्वारा मिल-बुनाई बन्द न हो, बल्कि लोगों के प्रयत्न से ही उसका बहिष्कार करना पड़े तो फिर बुनकरों को मिलों की दया पर ही अवलंबित रहना पड़ेगा। क्योंकि मिल तो हाथ-बुनाई की प्रतिस्पर्द्धा करती हैं और दिन-दिन मिलें ही अधिक

× "भारत को प्रतिवर्ष ४६६ करोड़ गज़ कपड़े की आवश्यकता है। (यह सब कपड़ा हाथ-करघे पर बुनाया जाय तो भी) अधिक-से-अधिक रोज़ दो घण्टा काम करनेवाले ६० लाख बुनकरों को हम काम दे सकते हैं। यदि यह कहा जाय कि इतने बुनकर नहीं, बल्कि इतने कुटुम्बों को काम मिला तो ये दो आना रोज़ भी उतने लोगों में बट जायँगे। फलतः फ़ी आदमी आमदनी अपेक्षाकृत बहुत-कम हो जायगी।" —लेखक

बुनाई करती जा रही है। एवं यह प्रतिस्पर्द्धा दिन-दिन तीव्र और घातक होती जायगी।

५. इसके विपरीत हाथ-करघा और चरखा दोनों जुड़वाँ भाई-बहन हैं। दोनों एक-दूसरे के बिना नहीं टिक सकते।

६. प्रत्येक घर में एक चरखा, और हरेक छोटे गाँव में एक करघा यह आनेवाले युग के विधान का मंत्र है।

: ५ :

खादी-उत्पत्ति की क्रियायें

१. खादी-उत्पत्ति-सम्बन्धी—लोढ़ने से लेकर बुनाई तक की—सब क्रियायें गृह-उद्योग द्वारा होना ही उचित है। यदि इनमें से कोई भी क्रिया कारखाने में करनी पड़े तो सम्भव है कि इससे खादी का उद्देश्य न जाने कब खतरे में गिर जाय।

२. इस कारण लोढ़ना और पींजन आदि को चरखे के आनुषंगिक अंग समझना चाहिए।

३. चरखा, पींजन, लोढ़ना आदि में जो कुछ सुधार किये जायँ वे ऐसी मर्यादा में होने चाहिए कि जिससे गृह-उद्योग के रूप में इन का नाश न हो जाय।

४. खादी-सुधार के लिए कपास इकट्ठा करने से लेकर बुनाई तक की सब क्रियाओं का, और साथ ही, यन्त्रों का सूक्ष्मता से अध्ययन करके सबमें सुधार करना चाहिए।

५. इसकी पहली सीढ़ी यह है कि जिसके खुद कपास की खेती है वह अपनी आवश्यकता के योग्य कपास रख छोड़े। इस

के लिए किसान अच्छा बीज इकट्ठा करने की चिन्ता रक्खेगा और कपास को पौधे पर से इस तरह चुन लेगा कि जिससे उसमें मिट्टी या गर्द न मिलने पावे। यों तो किसान इन बातों को खुद ही करने लग जायगा, किन्तु उसे समझाने की, राह दिखाने की और सुझाव करने की जरूरत है।

६. हाथ-लोढ़ने में कपास के बीज—बिनौले—को कोई नुक़-सान नहीं पहुँचता और न रुई के तन्तुओं की मजबूती ही कम होती है। ताजी लोढ़ी हुई रुई को पींजना आसान होता है।

७. अच्छे सूत का बहुत-कुछ दारोमदार अच्छी पूनी पर रहता है। जो कातना जानता है वह भली और बुरी पूनी का भेद समझता है और जो पींजना जानता है वह उसकी क्रियाओं का भेद जानता है। इसलिए जो पींजना जानता है वह दूसरे की बनाई पूनी का इस्तैमाल बदरजे मजबूरी ही करता है।

८. खराब पूनी से सूत का अंक घटता है और टूटे तारों की रद्दी बढ़ती है। अतएव आर्थिक दृष्टि से वह बहुत हानिकर है।

९. रुई की किस्म जितना बरदाश्त कर सके उससे मोटा या महीन सूत कातना हानिकर है। आमतौर पर कतैयों का झुकाव मोटा कातने की तरफ़ होता है इसे रोकने की जरूरत है। खादी-उत्पादक का ध्यान इस बात पर अवश्य रहना चाहिए कि रुई की क़िस्म के योग्य महीन सूत कताया जाय।

१०. उत्पादकों को इस बात पर भी नजर रखना चाहिए कि सूत पूरे कसका और एक-सा निकले।

११. महीन सूत का मतलब है थोड़ी रुई से अधिक कपड़ा,

कसदार सूत का मतलब है मजबूत और टिकाऊ कपड़ा, और समान सूत का मतलब है एक-सा और सुन्दर कपड़ा। फिर यदि सूत कसदार और एक-सा हो तो बुनकर थोड़ी मजदूरी में ही उसे बुनने के लिए तैयार हो जाता है। इस कारण खादी सस्ती करने के ये महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

१२. खादी-सेवक को उत्पत्ति-सम्बन्धी सब क्रियाओं का अनुभवयुक्त ज्ञान होना चाहिए। फिर खादी-उत्पत्ति-सम्बन्धी सभी यन्त्रों के गुण-दोष और उनकी मरम्मत का भी ज्ञान होना चाहिए। वह खुद इतना कारीगर अवश्य हो कि गाँव के किसानों को ही नहीं, बल्कि बढ़ई, लुहार इत्यादि कारीगरों को भी सिखा सके और राह बता सके। इसके अलावा उसे खादी के आर्थिक अंगों का भी परिज्ञान होना चाहिए।

: ६ :

घर-बनी और बिक्री की खादी

१. किसान अपने ही खेत की कपास से खुद लोढ़, पींज, कात ले और सिर्फ बुनाई के लिए ही पैसा दे, तो वह खादी मिल से भी सस्ती पड़ती है। इसे वस्त्र-स्वावलम्बन कहते हैं। जो किसान इसके साथ बुनाई सीखकर बुनने भी लगे तो वह पूरा स्वावलम्बी होजाय और उसे कपड़ा बहुत सस्ता पड़े।

२. किसान रुई—खास करके राह-खर्च लगकर आई हुई रुई—खरीदकर पूर्वोक्त क्रियायें घर पर करे तो उसका कपड़ा आज मिल के कपड़े से कुछ महँगा पड़ता है। परन्तु सूत के कस और अङ्क में सुधार होने से यह कसर निकल जायगी।

३. ख़रीदी हुई खादी की क़िस्मों में और सस्तेपन में जो तरक्क़ी अबतक हुई है उससे उसके भाव के सम्बन्ध में तथा चरखे का आन्दोलन ठीक दिशा में किया गया उद्योग है, इस विषय में कोई संशय नहीं रहता।

४. परन्तु बिक्री की खादी सस्ती करने के लिए जो परिश्रम किया गया है वह ठीक दिशा में नहीं हुआ, यह अब साफ़ दिखाई देता है। जिन ग़रीबों के हितार्थ यह काम जारी किया गया है उन्हें इसके द्वारा गुज़ारे-भर का महनताना मिलता है या नहीं, इस बात की तरफ़ काफ़ी ध्यान नहीं दिया गया।

५. खादी या दूसरे ग्राम-उद्योगों के उद्धार के लिए काम करने वाले सेवकों और संघों का धर्म, केवल यही नहीं कि जैसे-तैसे कोई उद्योग चालू हो जाय, बल्कि इस बात की जाँच करना भी है कि उन उद्योगों में लगे लोगों के गुज़ारे-भर मिहनताना मिलता है या नहीं। यदि श्रमिक को उतना मिहनताना न मिले तो कहना होगा कि उस उद्योग के उद्धार से ग़रीब की मिहनत का अनुचित लाभ उठाया जाता है।

६. फिर उन्हें इतने ही से सन्तोष न मान लेना चाहिए कि मज़-दूरों को इतना मिहनताना चुका दिया या मिल गया, बल्कि प्रत्येक मज़दूर के जीवन में उन्हें प्रवेश करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि वह अपने धन्धे में एक बढ़िया कारीगर होजाय और अपनी आमदनी का सद्व्यय करे।

७. खादी के सिलसिले में बताये नीचे लिखे नियम तमाम ग्राम उद्योगों पर यथायोग्य लागू किये जा सकते हैं:—

(क) प्रत्येक कार्यकर्त्ता को खेत में कपास चुनने से लेकर सूत बुनने तक की तमाम क्रियायें ठीक-ठीक जान लेनी चाहिए, इस तरह कि दूसरों को भी सिखा सकें।

(ख) व्यवस्थापकों को चाहिए कि वे अपने-अपने क्षेत्र के पिञ्जारों कतैयों, और बुनैयों की एक फ़ेहरिस्त रक्खें।

(ग) जो ख़ुद कातते हैं वे कौन-सी रुई इस्तैमाल करते हैं यह भी जान लें। और यह ध्यान रक्खें कि जितने अंक तक सूत निकलने की ताक़त रुई में हो उससे अधिक नम्बर का सूत न काता जाय।

(घ) कतैये तथा खादी बनाने में सहायक दूसरे कारीगरों को साफ़ कह देना चाहिए कि यदि वे अपने घर में खादी न पहनेंगे तो उन्हें काम न दिया जायगा।

(ङ) इस चेतावनी के साथ-ही-साथ उन्हें ऐसी सुविधा भी कर देनी चाहिए जिससे उन्हें मजदूरी के बदले में खादी मिल सके।

(च) खादी कार्यालय में आनेवाली सूत की हरेक आँटी की मज़-बूती और समानता जाँचनी चाहिए और जिस तरह कच्ची रोटी नहीं खाई जाती; उसी तरह कमजोर या असमान सूत न लेना चाहिए।

(छ) आमतौर पर प्रत्येक कतैये का सूत अलग रखना चाहिए। और जब कपड़े के लायक़ पूरा सूत जमा हो जाय तब उसे अलग बुना लेना चाहिए। इससे खादी मजबूत बनेगी और बुनाई तथा सफ़ाई में सुधार हुए बिना न रहेगा।

(ज) इस तरह तैयार हुए हरेक थान पर, यदि लोढ़ैया, पिञ्जारा

कतैया और बुनैया अलग-अलग हों तो सबके नाम की चिट लगानी चाहिए। जहाँ कारीगर एक ही अपने कुटुम्बी हों वहाँ ये तमाम क्रियायें अपने ही कुटुम्ब में कर लेने की प्रेरणा उसे करनी चाहिए और प्रोत्साहन देना चाहिए। यदि मजदूरी समान अथवा लगभग समान करदी जाय तो यह काम बिल्कुल आसान हो जायगा।

(झ) इन कारीगरों के जीवन का और उनके आमद्-खर्च का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और जो अपनी आमदनी का उपयोग सोच-समझकर ठीक-ठीक करते हों उन्हें मदद करनी चाहिए।

(ञ) यदि कभी बिक्री कम होने से संघ में कारीगरों की संख्या कम करनी पड़े तो पहले उन्हें कम करना चाहिए जिनके पास रोजी का दूसरा साधन हो। आज-कल तो कितने ही प्रान्तों में महज आजीविका के ही लिए कातने वालियाँ नहीं कातती हैं बल्कि बचत की ग़रज़ से भी, जिससे कि फालतू चीजें ख़रीद सकें, स्त्रियाँ कातती हैं। इन लोगों को न तो अच्छा खाना खाने की आदत पड़ी होती है और न कर्ज चुकाने की ही।

(ट) अबसे हर जगह कार्यकर्ताओं को पिंजन और चर्खे को बारीकी से देखना होगा। खासकर यह देखना होगा कि चर्खे का तकुआ पूरे चक्कर मारता है या नहीं; क्योंकि जो भाव बढ़ाने की तजवीज हुई है उसका मतलब यह नहीं है कि हर किसी कतवैये को हर कैसे सूत पर बढ़ी हुई दर दी जाय। दर कुछ तो जरूर बढ़ेगी, परन्तु वह तो उन्हींको मिलेगी जो अब कातते

हैं उससे उतने ही समय में अधिक बार और अधिक अच्छा कातते होंगे। जो कतवैये अपनी कताई में सुधार नहीं करेंगे उन्हें कुछ भी बढ़ती मिलने की सम्भावना नहीं है सिवाय इसके की खादी की मांग ही बढ़ जाय।

(ठ) पूर्वोक्त कथन से यह निचोड़ निकलता है कि चर्खा संघ को नये चर्खे, नये तकुवे, नये मोढ़ वगैरा साधन शुरूआत में कुछ सस्ते भाव में देने होंगे। बहुत-सी जगह तो माल और तकुवे के सुधार से ही अपने-आप सूत सुधर जायगा।

: ७ :

यज्ञार्थ कताई

१. यज्ञार्थ कताई का अर्थ है अपने आर्थिक लाभ की इच्छा न रखकर गरीबों के लाभ के लिए सूत कातना।

२. जिसे गरीबों के और देश के हित का खयाल है उसे इस तरह प्रतिदिन यज्ञार्थ सूत कातना चाहिए।

३. इससे वे गरीब लोग भी कातने लगेंगे जिन्हें थोड़ी आमदनी की जरूरत होती है।

४. फिर इससे हम लोग, जोकि किसी प्रकार का उत्पादक श्रम किये बिना बहुत-सी चीजों का उपभोग करते रहते हैं, उत्पादक श्रम की महिमा समझेंगे और उसमें अपना कुछ हिस्सा दे सकेंगे।

५. इस तरह धनी और गरीब दोनों एक प्रकार के श्रम में शरीक होकर एक दूसरे से अपनी डोर बाँध सकेंगे।

६. फिर चरखे को धता बताकर हमने विदेशी कपड़े को लाने का जो पाप किया है उसके प्रायश्चित्त के रूप में भी यज्ञार्थ कताई समझी जा सकती है।

७. इस कारण आज कातने का कर्त्तव्य अकेली स्त्रियों का नहीं बल्कि पुरुषों और बच्चों का भी होगया है।

८. जो अपना सूत खुद कात लेते हैं वे देश के लिए आवश्यक कपड़े-सम्बन्धी अपनी जिम्मेदारी खुद पूरी करके सहायता देते हैं। पर इसे यज्ञार्थ कताई नहीं कह सकते।

९. इस तरह कातने की मजदूरी का दान यदि बहुत बड़ी तादाद में देश को मिले तो इससे भी बिक्री की खादी, गरीबों की मजदूरी कम हुए बिना, सस्ती हो सकती है।

: ८ :

खादी-कार्य

१. खादी की उत्पत्ति और बिक्री के संगठन में सैकड़ों उच्च-आकांक्षी युवकों के लिए अपनी बुद्धि, व्यवस्था-शक्ति, व्यापारिक चतुरता और शास्त्रीय ज्ञान को प्रदर्शित करने का व्यापक क्षेत्र खुला हुआ है। इस एक ही काम को सुचारु-रीति से सम्पन्न कर दिखाने से राष्ट्र अपनी स्वराज्य-सञ्चालन-शक्ति सिद्ध कर सकता है।

२. फिर खादी रूपी सूर्य के आस-पास देहात के अनेक उद्योग ग्रहमाला की तरह बढ़ सकते हैं और उसके द्वारा जबरन् निरुद्यमी और आलसी बने लोगों के घर रोजी और धन्धे से गूँज उठेंगे।

३. फिर यह काम आज आत्मशुद्धि के कार्य में बहुत बड़ा सहा-यक हो रहा है। इसके निमित्त से कार्यकर्तागण गाँव-गाँव में स्वराज्य का और उसकी तैयारी के रूप में किये जानेवाले रचनात्मक कार्य-क्रम (अहिंसा, मद्यपान-निषेध, अस्पृश्यता-निवारण, स्वच्छता, राष्ट्रीय-एकता आदि) का सन्देश पहुँचा रहे हैं।

४. एक ऐसा महकमा होना चाहिए जो खादी-शास्त्र के सम्बन्ध में सब प्रकार की जानकारी दिया करे और शोध करता रहा करे।

: ६ :

पूरा मिहनताना

१. मनुष्य चाहे किसी प्रकार का श्रम करे उसे उतनी मजदूरी मिल जानी या पड़ जानी चाहिए कि जिससे उसका और उसके अशक्त आश्रितों का गुजारा अच्छी तरह चल सके, बशर्ते कि वह उसको मिले साधनों और तालीम का उचित और ईमानदारी से दिन के पूरा समय-भर उपयोग करे।

२. देहात के वर्तमान साधन, रहन-सहन आदि का खयाल करते हुए और ग्राम-जीवन का दर्जा जितना ऊँचा लेजाना बिल्कुल आवश्यक है उसका विचार करते हुए तथा चीजों के आज के भाव का खयाल करते हुए ८ घण्टे एक दिन की मजदूरी का समय और फी घण्टा १ आना मजदूरी की आवश्यक दर मानना ठीक होगा।

३. भले ही आज एकबारगी इस स्थिति तक पहुँचने की

हमारी हिम्मत न हो, परन्तु इस बात को ध्यान में रखकर इस दिशा में सतत प्रयत्न करना उचित है।

४. आदर्श स्थिति और वर्ण-धर्म की परिपूर्णता तो तब समझी जायगी कि जब सब धन्धे करनेवालों की आमदनी एक-सी हो। पर आज तो निकट-भविष्य में यह सम्भव नहीं मालूम होता। इसलिए, इस आदर्श को सामने रखकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ते रहने की नीति रक्खी गई है।

खण्ड १० :: स्वच्छता और आरोग्य

: १ :

शारीरिक स्वच्छता

१. शारीरिक स्वच्छता के विषय में भारत की कुछ जातियों ने तो ठीक-ठीक ध्यान दिया है; परन्तु सर्वसाधारण में अभी इसके विषय में बहुत काम करना है।

२. बच्चे की सफ़ाई पर तो पूर्वोक्त जातियों में भी बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। यह नहीं दिखाई देता कि बालक के खुद सफ़ाई रखने के लायक़ होने के पहले, उसके माँ-बाप उसे साफ़-सुथरा रखने की काफी चिन्ता रखते हों।

३. नित्य स्नान करना चाहिए, यह बात हिन्दुओं का एक बड़ा भाग, धार्मिक नियम के तौर पर मानता है; किन्तु यह नहीं कह सकते कि तमाम हिन्दू ऐसा मानते हैं। भारत की दूसरी जातियों में रोज़ नहाने का आम रिवाज नहीं है। हिन्दुस्तान में रोज़ नहाना, स्वच्छता तथा आरोग्य दोनों के लिए आवश्यक है।

४. परन्तु नहाने का मतलब सिर्फ़ इतना ही नहीं है कि बदन

पर पानी डाल लिया जाय। नित्य स्नान करनेवाले बहुतेरे लोग इससे आगे नहीं बढ़ते हैं। बल्कि नहाने के मानी हैं शरीर का मैल निकाल कर उसके छिद्र खुले कर देना। इसलिए स्नान करने का पानी उतना ही साफ़ होना चाहिए जितना कि पीने का पानी होता है। ऐसा पानी यदि रोज़ काफ़ी मात्रा में न मिल सके तो गंदे पानी से नहाने की अपेक्षा साफ़ पानी में कपड़ा भिगोकर उससे शरीर को मलकर पोंछ डालना कहीं अच्छा है। हमारे देश के गावों में ही नहीं, बल्कि बड़े-से-बड़े क़स्बों में भी लोग जैसे पानी से नहाते हैं, उसे नहाने लायक़ नहीं कह सकते।

५. आँख, कान, नाक, दाँत, नख, बग़ल, जाँघ की जोड़ आदि अवयव, जिनसे कि मैल निकलता है अथवा जिनमें मैल भरा रहता है, उनकी सफ़ाई की तरफ़ सभी लोगों में—खासकर बच्चों के विषय में—बहुत लापरवाही रक्खी जाती है। छोटे बच्चों को जो आमतौर पर आँख की बीमारियाँ हो जाती हैं वे आँख-नाक को साफ़ पानी और साफ़ कपड़े से न धोने और न पोंछने का परिणाम है। इस विषय में सफ़ाई रखने की ओर बहुत-कम रुचि और गंदगी के प्रति बहुत कम घिन हम लोगों में पाई जाती है। इस कारण ग्राम-सेवकों और शिक्षकों के लिए यह विषय बहुत बारीकी से ध्यान देने योग्य है।

६. कपड़ों की सफ़ाई भी शरीर-स्वच्छता का ही एक भाग है। कपड़ों के मैले रहने का कारण केवल दरिद्रता ही नहीं कही जा सकती। बहुतेरी गंदगी तो सफ़ाई की आदत न रहने और आलस्य के कारण रहती है।

७. पैबन्द लगे कपड़ों से मनुष्य की दरिद्रता सूचित होती है। परन्तु उससे हमें शर्मिन्दा होने की आवश्यकता नहीं। शूरवीर के लिए जैसे घाव भूषण-रूप होता है वैसे ही गरीब के लिए पैबन्द भूषण भी समझा जा सकता है। परन्तु कपड़ों को फटा और गंदा रहने देकर मनुष्य अपनी गरीबी का नहीं, बल्कि फूहड़पन और आलस्य का परिचय देता है और यह जरूर शर्मिन्दा होने योग्य बात है।

८. यह न समझना चाहिए कि साफ़ कपड़े दूध की तरह सफ़ेद ही होते हैं। मिहनत-मजदूरी करनेवाले लोग दूध की तरह सफेद कपड़े नहीं रख सकते। परन्तु बार-बार उन्हें साफ़ पानी से धोना, बीच-बीच से साबुन लगाते रहना, या खार आदि से धो लेना और गरम पानी में डालकर जंतुरहित करना आवश्यक है।

९. बदन पर के कपड़ों से ही हाथ, मुँह, नाक, कान आदि पोंछना और उनमें रोटियाँ या खाने की अन्य वस्तुयें बाँध लेना बड़ी गन्दी आदत है। जिन्हें बदन पर पहने कपड़ों के अलावा दूसरा कपड़ा नहीं मिलता उन्हें कम-से-कम पुराने कपड़ों का छोटा-सा रूमाल अवश्य कमर में खोंस रखना चाहिए। इसमें न खर्च लगता है, न मिहनत। अलबत्ता कपड़े साफ़ रहते हैं और उसे भी साफ़ रखना बहुत आसान है।

: २ :

सुघड़ और स्वच्छ आदतें

१. शारीरिक स्वच्छता के उपरांत और भी सुघड़ और सुथरी आदतें डालने की जरूरत है। इनके अभाव में हम उन लोगों के

दिलों में नफ़रत पैदा करते हैं जिनकी आदतें बहुत साफ़-सुथरी हैं।

२. हमारी आँखों को ऐसा अभ्यास होना चाहिए कि वे गंदगी को देखकर खामोश न रह सकें। इसका अर्थ यह नहीं है कि गंदगी देखकर हम वहाँ से भाग जावें; बल्कि फौरन उस गंदगी को दूर करने का उपाय करना चाहिए।

३. सफ़ाई-पसन्द आदमी कभी बैठने की जगह को साफ़ किये बिना नहीं बैठेगा। और जब उठेगा तब भी उसे साफ़ कर देगा। वह जहाँ चाहे वहीं काग़ज़ के टुकड़े या दूसरा कूड़ा-करकट नहीं फेंक देगा। जहाँ-तहाँ थूकेगा नहीं। दतौन की लकड़ी, बीड़ी के ठूँठ, जली हुई दियासलाइयाँ, इत्यादि हर जगह नहीं फेंक देगा। बल्कि इन सबके लिए एक खास टोकरी या बरतन रक्खेगा और उसीमें फेंकेगा।

सुघड़ता और सफाई की आदत डालने के लिए नीचे लिखे नियमों का पालन करना चाहिए;

४. बिना पानी लिये पाखाना न जाना चाहिए।

५. पाखाना जाने के बाद हाथ-पाँव को मलकर धोना चाहिए और पाखाने का लोटा—यदि खासतौर पर न रखा गया हो तो—घिसकर माँजना चाहिए।

६. पानी पीने के लिए एक अलहदा बरतन मटके के पास रखना चाहिए। जूठा बरतन मटके में कदापि न डालना चाहिए। मटके के पास इस तरह खड़े रहकर पानी न पीना चाहिए कि जिस से पानी की बूँदें मटके पर पड़ें।

७. जहाँ बहुत से लोगों के पीने के लिए एक बरतन हो वहाँ

प्याले या गिलास को मुँह से लगाकर पानी पीना अनुचित है। ऊपर से पीने की आदत डालना चाहिए और जो इस तरह न पी सकें उन्हें अपना बरतन अलहदा रखना चाहिए या चुल्लू से पीना चाहिए।

८. भोजन करने के स्थान पर यदि जूठन बिखरी हो तो उसे उठाकर उस जगह को, यदि बन्द हो तो धोकर, यदि खुली हो तो बुहारकर साफ कर देना चाहिए। इतना करने के पहले उस जगह में घूमना-फिरना, जूठन चिपके पाँवों से साफ जगहों और कमरों में जाना-आना तथा उस जगह दूसरों को भोजन कराना अनुचित है। ऐसा स्थान मक्खियों के त्रास को न्यौता देने के समान है।

९. आमतौर पर कड़छुल या चमचे से ही परोसना चाहिए। साग, दाल या भात जैसी चीजें हाथों से परोसना उचित नहीं है। इससे भी अधिक बुरा जूठे हाथों से परोसना है। रोटी अथवा पूड़ी जैसी सूखी चीजें भी जूठे हाथ से न देना चाहिए।

१०. भोजन करनेवाले की थाली या कटोरी से छुआकर चीजें परोसना अस्वच्छता है और इस भय से कि हाथ कहीं छू न जाय, परोसने के बदले चीजें बरतन में दूर से फेंकना असभ्यता है।

११. गंदे पाँव से अपने बिछौने पर भी पैर न रखना चाहिए। जहाँ बहुतेरे मनुष्य एक जगह सोये हों वहाँ इस तरह न आना-जाना चाहिए कि जिससे किसीके बिछौने पर पैर पड़ें।

१२. काम करके आने पर अथवा पेशाब कर चुकने पर बिना हाथ धोये किसी खाने की चीज़ को न छूना चाहिए, या पानी के मटके में हाथ न डालना चाहिए। पान, तम्बाकू, बीड़ी के

व्यसनियों को इस विषय में ख़ास तौर पर एहतियात रखना चाहिए। जिनको बार-बार खुजली उठती हो, या नाक साफ़ करनी पड़ती हो उन्हें तो हाथ धोये बिना किसी खाने-पीने की चीज़ को हरगिज़ न छूना चाहिए।

१३. जिस बाल्टी या बरतन में कपड़े धोये हों उसको माँज कर चिकनापन दूर किये बिना उसे कुएँ में न डालना चाहिए—न पीने या रसोई बनाने का पानी उसमें भरना चाहिए।

१४. पेशाब, कुल्ला, थूकना इत्यादि के लिए मोरियों के उपयोग करने का रिवाज बड़ा गंदा है और यह बहुत आवश्यक है कि ऐसी मोरियाँ घर में रक्खी ही न जायँ। इसके लिए ख़ास बरतन रखना और उन्हें दूर लेजाकर साफ़ करना अच्छा है। जिन गाँवों में अच्छी गटर का प्रबंध नहीं है वहाँ मोरियों से बिल्कुल काम न लेना चाहिए।

१५. फिर भी जहाँ मोरियों से काम लेना ही पड़े वहाँ नालियों में पेशाब करने के लिए बैठे तो यदि नज़दीक कोई बरतन आदि पड़ा हो तो उसे इतनी दूर रख देना चाहिए कि जिससे छींटें न लगने पावें। और इस तरह हाथ-मुँह भी न धोना चाहिए, न कुल्ला ही करना चाहिए कि जिससे उनपर बूँदें पड़ें।

१६. अपने पहने हुए कपड़े, बिना धोये, दूसरों को पहनने के लिए, न देना चाहिए।

१७. बुरी गालियाँ निकालने की कुटेव को भी शारीरिक अस्वच्छता कह सकते हैं। जिस जीभ से परमात्मा का नाम लेते हैं उसीसे गंदी गालियाँ निकालना, नहाकर घूरे पर लेटने से भी अधिक गंदा है; क्योंकि इससे जीभ के साथ मन भी अपवित्र होता है।

: ३ :

बाह्य स्वच्छता

१. शारीरिक स्वच्छता के बारे में कदाचित् पूर्वोक्त वर्गों को प्रमाण-पत्र दिया जा सके, किन्तु घर, आँगन, गली, रास्ते आदि की सफ़ाई के विषय में यह बात नहीं। हाँ, दलित जातियाँ अलबत्ते इस विषय में कुछ प्रशंसा-पात्र हो सकती हैं। परन्तु आमतौर पर सभी को इस विषय में अपने जीवन में बहुत-कुछ सुधार करने की आवश्यकता है।

२. जहाँ-तहाँ थूक देने, मल-मूल कर देने, कूड़ा-करकट फेंक देने और उनको इकट्ठा कर छोड़ने की गन्दी आदत ने भारत के गाँव, शहर, तीर्थक्षेत्र, रास्ते, नदी, तालाब, धर्म-शालायें, स्कूल, स्टेशन, रेलगाड़ी, जहाज़, आदि को कलंकित कर रक्खा है।

३. इस कुटेव के मूल में अस्पृश्यता भरी हुई है। मनुष्य जहाँ बसता है वहाँ गन्दगी के कारण तो पैदा होंगे ही। परन्तु भारत के स्पृश्य वर्गों ने ख़ुद गन्दगी साफ़ करने के काम को हलका समझकर तथा इन परोपकारी काम करनेवालों को अस्पृश्य मानकर, गन्दगी को दूर करने के बदले इकट्ठी करने का रिवाज डाल दिया है और ख़ुद अस्पृश्यों के साथ सहयोग नहीं करते, इसलिए उनके सिर पर इतना काम छोड़ रक्खा है जो उनके किये हो नहीं सकता। इसके फल-स्वरूप देश में अनेक प्रकार के रोग—प्रकोपों को निमन्त्रण दे रक्खा है और उन स्थानों को इतना गन्दा बना दिया है कि रूह क़ब्ज़ होती है।

४. पूर्वोक्त प्रकार के स्थानों में थूकना, मल-मूत्र विसर्जन करना और कूड़ा-करकट डालना पाप है। और यह गुनाह समझा जाना चाहिए।

५. पान, तम्बाकू आदि की आदत न हो तो नीरोगी मनुष्य को दतौन के वक्त के अलावा थूकने की जरूरत नहीं रहती। दाँत, नाक या फेफड़े के बीमार को बार-बार थूकना या नाक साफ़ करना पड़ता है। इससे जाहिर होता है कि पान-तम्बाकू आदि की आदत डालना मानों नीरोगी होते हुए भी रोगी आदमी का कष्ट मंजूर करना है। मनुष्य के थूक तथा बलग़म में बहुत तरह के जहर होते हैं। ये जहर हवा में मिलकर तन्दुरुस्त आदमी को भी छूत लगा देते हैं। इस कारण थूक, बलग़म आदि को नष्ट करने की व्यवस्था अवश्य करना चाहिए।

६. प्रत्येक घर में थूकने के लिए राख से भरा हुआ एक बरतन रखना चाहिए और उसीमें थूकना चाहिए। उस बरतन को रोज़ दूर खेत में खाली करके नई राख उसमें भरना चाहिए। यदि थूकने के लिए पीकदानी इस्तैमाल की जाती हो तो उसे हर कहीं खाली न करना चाहिए। बम्बई जैसे शहरों में जहाँ गटरों का पूरा इन्तजाम हो वहाँ भले ही उन्हें नाली में खाली किया और धोया जाय; परन्तु देहात और क़स्बों में तो उन्हें खेतों में डालकर मिट्टी डाल देना चाहिए। या गरम राख उसपर डालकर उसे दूर फेंक आना चाहिए।

: ४ :

शौच×

१. रास्तों में पाखाना बैठने की आदत बिल्कुल न होनी चाहिए। खुली जगह में, जहाँ लोग आते-जाते और देखते हों, पाखाना फिरना, या बच्चों तक को टट्टी बैठाना असभ्यता है।

२. इस कारण प्रत्येक गाँव में घूरे की जगह में सस्ते-से-सस्ते पाखाने बनवाने चाहिए और उन्हें रोज नियमित रूप से साफ कराना चाहिए।

३. यदि जंगल में ही शौच जाना हो तो गाँव से एक मील दूर, जहां आबादी न हो, जाना चाहिए। वहाँ पहले एक गड़हा खोद लेना चाहिए और शौचक्रिया के बाद मलपर खूब मिट्टी डाल देना चाहिए। समझदार किसान अपने खेतों में ही पूर्वोक्त प्रकार के पाखाने बनाकर अथवा 'जंगल' जाकर मिट्टी डाल दे और बिना पैसे का खाद प्राप्त करलें।

४. इसके अलावा बालक, बीमार, आदि के तथा वक्त-बेवक्त काम आने के लिए हर घर में एक पाखाना जरूर होना चाहिए। उसके लिए टीन के डिब्बों का उपयोग किया जा सकता है और उनमें भी मैले पर काफी मिट्टी डाल देना चाहिए। इन डिब्बों को

× यह तथा इसके आगे के कितने ही प्रकरण गांधीजी लिखित— 'गामड़ानी बहारे' नामक लेखमाला के आधार पर लिखे गये हैं। 'ग्राम-सेवा' के नाम से 'मंडल' से यह प्रकाशित हो चुका है। मूल्य ‒) —लेखक

रोज खेत में गड्ढा बनाकर उसमें खाली कर देना चाहिए और ऊपर से साफ मिट्टी डाल देनी चाहिए। डिब्बे इस तरह साफ करने चाहिए कि उनमें बदबू न रहे।

५. पाखाने में पानी और पेशाब गिरने के लिए एक अलहदा डिब्बा रखना चाहिए। और इस्तैमाल करनेवाले को इतना एह-तियात रखना चाहिए कि इधर-उधर पानी-पेशाब न गिरने पावे।

६. बंद पाखाने बिल्कुल बेकार हैं; क्योंकि इतनी गहराई में खाद पैदा करनेवाले जन्तु नहीं रहते और उनमें से गंदी वायु पैदा होती है और हवा को बिगाड़ती है।

७. गलियों में पेशाब करना पाप समझना चाहिए। इसके लिए भी बहुत मिट्टी भरे कूँडे रखने चाहिएँ—जिससे न बदबू आवे न इधर-उधर छींटें गिरें।

८. हरेक व्यक्ति को खुद पाखाना साफ करने की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इससे उसे इस बात का खयाल रहेगा कि डिब्बों को ठीक-ठीक न रखने से अथवा ठीक तौर पर इस्तैमाल न करने से कितनी मिहनत बढ़ जाती है। वह यह भी जान सकता कि मेहतर समाज की कितनी सेवा कर रहे हैं। और यह भी समझ जायगा कि पाखाना साफ करने में नफरत आने की कोई वजह नहीं है एवं भंगी की कठिनाइयों का कारण इस क्रिया की ही मलिनता नहीं, बल्कि उसके इस्तैमाल करने के तरीक़े के विषय में हमारी लापरवाही है।

९. मनुष्य के मल-मूत्र की तरह ही पशुओं के मल-मूत्र का भी उपयोग खाद के रूप में ही करना चाहिए। गोबर के कण्डे

बनाना मानों चलनी नोट को जलाकर तापना है। पशुओं के मूत्र का कुछ भी उपयोग नहीं किया जाता, इससे वह आर्थिक और आरोग्य दोनों दृष्टियों से हानिकर होता।

: ५ :

जलाशय

१. तालाब, कुँए और नदियों का पानी बहुत साफ रखने की ओर ग्राम-पंचायतों और ग्राम-सेवकों को खूब ध्यान देना चाहिए।

२. आज तो जलाशयों की स्थिति बहुत शोचनीय है। तालाब में ही बरतन साफ किये जाते हैं, नहाते-धोते हैं, मवेशी भी उन्हीं में नहाते हैं, पड़े रहते हैं और पानी भी पीते हैं; बच्चे और बड़े लोग भी उसीमें आबदस्त लेते हैं। उसके आस-पास की जमीन पर तो मलत्याग करते ही हैं और यही पानी पीने और रसोई बनाने के काम में लाया जाता है—यह सब पाप माना और बन्द किया जाना चाहिए।

३. गाँव के तालाब को इस तरह बाँध लेना चाहिए कि जिस से मवेशी उसमें न जा सकें और उसकी ठेल वैसी होना चाहिए जैसीकि कुँओं की होती है।

४. इसी तरह कपड़े धोने के लिए तालाब के पास एक टंकी होनी चाहिए और उसके नजदीक ऐसा पक्का थला बना देना चाहिए जिससे वह पानी फिर तालाब में न पहुँचने पावे और पानी को दूर ले जाकर छोड़ना चाहिए।

५. इस ठेल तथा टंकी को रोज गाँव के लोग यदि हाथों-हाथ

भर डालें तो अच्छा ही है वर्ना थोड़े खर्च से उनके भराने की व्यवस्था होनी चाहिए।

६. जूठे बरतन तालाब या कुँए में न माँजने, न धोने चाहिएं— बल्कि बाहर की टंकी में माँज-धोकर फिर जलाशय में उन्हें डुबोना चाहिए।

७. तालाब में ऐसी सुविधा होनी चाहिए कि पानी भरने वाले को अपने पाँव पानी में न डुबोने पड़ें।

८. जिस गाँव में एक ही तालाब हो वहाँ तालाब के अन्दर नहाना न चाहिए। जहाँ तालाब अधिक हों वहाँ पीने का तालाब अलहदा रखना चाहिए।

९. कुओं की बार-बार मिट्टी निकलवा कर साफ रखना चाहिए। उसके आस-पास मुँडेरे होना चाहिए और कीचड़ न होने देना चाहिए। इसके लिए उसका थला पक्का बनाना चाहिए और पानी को इस तरह दूर ले जाने का प्रबन्ध करना चाहिए जिससे वह फिर जमीन में पैठ कर कुएँ में न चला जाय।

१०. इस तरह पानी को दूर ले जाने के लिए घर, कुएँ आदि के सामने जो नालियाँ बनाई जाती हैं उनमें हरियाली और घास-फूस जम जाता है। उसमें से बदबू निकलती है और मच्छरों को बढ़ने का स्थान मिलता है। इसलिए इन नालियों की सफाई की ओर पूरा ध्यान देना चाहिए तथा उन्हें रोज झाड़ू से घिसकर साफ करना चाहिए।

: ६ :

बीमारियाँ

१. रोग और रोग के बाहरी लक्षणों को अलग-अलग समझना चाहिए।

२. सिर दर्द करना, बुखार आना, दम उठना, ये बीमारियाँ नहीं हैं; बल्कि शरीर में पैदा हुए जहरों या रोगों के दृश्य परिणाम हैं।

३. प्राणियों के लहू में ऐसे परोपकारी जन्तु भरे रहते हैं कि वे शरीर में पैदा होनेवाले जहरों को निकाल डालने के लिए बड़े जोरों से कोशिश करते रहते हैं। यह जोरों की कोशिश ही बुखार, दम, सूजन, दर्द इत्यादि के रूप में प्रकट होती हैं।

४. जिन कारणों से ये जहर पैदा हुए हों या होते रहते हों, वही सच्चा रोग है। बुखार वगैरा तो बाहरी चिन्ह मात्र हैं।

५. गिर पड़ना, चोट लगना आदि आकस्मिक दुर्घटनाओं के कारण उत्पन्न रोगों को छोड़ दें तो आमतौर पर यह कह सकते हैं कि प्रत्येक रोग का कारण है असंयत जीवन।

६. खाने-पीने में, विषयोपभोग में, नींद-जागरण, आलस्य, अति-श्रम, तथा नाटक-सिनेमा इत्यादि विलासों में असंयम—यही रोगों का मुख्य कारण है।

७. ये असंयम चाहे अज्ञान से हों, चाहे भूल से हों, चाहे बदर्जे मजबूरी हों, या जान-बूझकर होते हों, सबका परिणाम शरीर को रोग के रूप में भोगना पड़ता है।

८. ये कारण मौजूद हों और फिर यदि उसमें गन्दी हवा,

गन्दा पानी और दूसरी गन्दगी आ मिले तो बीमारी पैदा हो जाती है।

९. ऐसा देखा जाता है कि जो स्वच्छ और संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं उन्हें छूत के रोगियों में रहते हुए भी रोग पैदा नहीं होते। इससे ज़ाहिर होता है कि मनुष्य के लहू में बाहरी ज़हरों को हटाने की बहुत ताक़त होती है। जब असंयम के कारण यह बल हट जाता है तभी छूत के रोग लग जाते हैं।

१०. रोग के कारणों को रोकना यह पहला इलाज है। इस इलाज में भी पहला उपाय है संयमपूर्वक, निश्चित और काफ़ी आहार-विहार तथा पूरा परिश्रम और नींद एवं स्वच्छ हवा, स्वच्छ पानी, तथा कपड़े, घर आँगन, गलियों की स्वच्छता।

:७:

इलाज

१. शरीर में अस्वस्थता मालूम होते ही रोग को रोकने का उपाय करना, यह प्रारम्भिक इलाज है।

२. इलाज यदि ठीक-ठीक हो तो रोग बहुतांश में क़ुदरती तौर पर दूर हो जाते हैं। दवायें लेना तो बहुतांश में फ़िज़ूल और हानिकर भी होता है।

३. आहार-विहार की भूलों को दूर किये बिना, सिर्फ़ हवा-पानी के सुधार से रोग दूर करने की इच्छा करना मानों शरीर को साफ़ पानी से धोकर मैले तौलिये से पोंछना है। और इन दोनों के सुधार के बिना सिर्फ़ दवा के बल पर आराम पाने की इच्छा करना

मानों मैले कपड़े को काला रंगकर साफ़-सफ़ेद हो जाने की कल्पना कर लेना है।

४. दवा के अलावा और भी वैज्ञानिक इलाज हैं जिनका ज्ञान हरेक को होना चाहिए। ये आसान हैं और बिना खर्चे के किये जा सकते हैं।

५. यह ख़याल ग़लत है कि प्रत्येक गाँव में एक अस्पताल होना चाहिए। हाँ, बहुतेरे गाँवों के लिए एक औषधालय या अस्पताल हो तो बस है। गाँव के औषधालय का मतलब तो आमतौर पर ग्राम-सेवक के उपचार ही होना चाहिए।

६. सबसे अच्छा इलाज है उपवास तथा उसके साथ ही कटि-स्नान और सूर्य-स्नान। इसकी आवश्यक विधियों का ज्ञान स्वयं-सेवक को प्राप्त कर लेना चाहिए।×

७. इसके अलावा भीगी मिट्टी की पट्टी बाँधने से बहुतेरे रोग और बुखार मिट जाते हैं। बुखार तेज हो, सिर दर्द करता हो, पेट या पेडू में दर्द हो, चोट से या दूसरे कारण से कहीं वरम आ गया हो, नकसीर फूटी हो, खुजली, खस इत्यादि चर्म-रोग हुए हों, कब्ज़ रहता हो, नींद अच्छी न आती हो, जहरीले जन्तुओं ने डंक मारा हो, तो इन सबके ऊपर दर्द की जगह बिना कंकरी की बारीक मिट्टी भिगोकर उसकी पट्टी बाँधना बहुत अक्सीर और क़ुदरती इलाज है। एक पट्टी जब सूख जाय तो दूसरी पट्टी चढ़ा देना चाहिए।

× इस विषय के लिए गांधीजी की 'आरोग्य-साधन' पुस्तक पढ़नी चाहिए

८. फोड़ा पका न हो, साँस लेने में रुकावट पड़ती हो, थकावट या सरदी से टीस उठती हो, तब गरम पानी में रुमाल भिगोकर, निचोड़कर फिर उससे हलके-हलके सेंकने से बहुत आराम मिलता है। रेती, मिट्टी या ईंट को गरम करके कपड़े में लपेटकर भी धीरे-धीरे सेंक की जा सकती है।

९. किसीके बीमार होते ही फ़ौरन् उसका बिछौना दूसरे लोगों से अलहदा कर देना चाहिए। उसके आस-पास से मनुष्यों की और सामान आदि की भीड़ हटा देना चाहिए। उसे इस तरह लिटाना चाहिए कि जिससे काफ़ी प्रकाश और हवा मिल सके। हवा का सीधा झोंका बीमार को न लगने देना चाहिए। उसके कपड़े, चद्दर, ओढ़ना आदि साफ़-सुथरा रखना चाहिए। उसके कम्बल, बिछौना, तकिया आदि को बार-बार कड़ी धूप में रखना चाहिए।

१०. बीमार को दवा देने की अपेक्षा उसके शरीर, मन और पेट को आराम देने की बहुत ज़रूरत है। इनमें से पेट को आराम देने की तरफ़ बहुत-कम ध्यान दिया जाता है।

११. बीमारी कोई भी हो शायद ही ऐसा होता हो कि उसका पेट बिगड़ा हुआ न हो। इसलिए उसके पेट को हलका करना उपचारक का पहला काम है। इसके लिए सबसे पहले वस्ती (एनीमा) देना चाहिए और यदि बुखार जोर का न हो तो एकाध जुलाब भी दे सकते हैं। इसके साथ ही एक या दो लंघन कराने में किसी प्रकार की हानि नहीं है। यदि बीमार बहुत कमजोर हो तो उसे अधिक उपवास कराये जायँ या नहीं, इसके लिए किसी

अनुभवी की सलाह ले लेना आवश्यक है। ऐसे सलाहकार मिलें या न मिलें परन्तु इतनी बात तो अच्छी तरह समझ ही लेना चाहिए कि जिस समय बीमार का खून रोग के कीटाणुओं से लड़ रहा हो उस समय भोजन पचाने का बोझा उसपर न पड़ने देना चाहिए और इस कारण, यदि उसे कुछ खिलाना आवश्यक ही हो तो बहुत हलका, सिर्फ प्राण टिका रखने लायक ही, देना चाहिए।

१२. गाय या बकरी का दूध ऐसी हलकी खुराक हो सकती है। १० से २० तोला दूध बीमारी में, प्राण टिका रखने लायक, समझा जा सकता है।

१३. परन्तु बीमारी में तथा लंघन में रोगी को साफ पानी काफी मात्रा में पिलाना चाहिए। पानी के साथ सोडा-बाई-कार्ब और थोड़ा नमक देना अच्छा है। खट्टा नींबू भी आमतौर पर दिया जा सकता है और जूड़ी आदि में जब उलटी होती हो, या सिर दर्द करता हो तो नींबू जरूर देना चाहिए।

१४. फसली बुखार में, सम्भव है कि कुनैन भी देना पड़े। परन्तु यदि पूर्वोक्त बातों का एहतियात रक्खा जाय तो उतनी मात्रा नहीं देनी पड़ती जितनी आमतौर पर डाक्टर लोग देते हैं। कुनैन को नींबू के रस में थोड़ा सोडा मिलाकर लेने से कम नुकसान होने की सम्भावना है।

१५. बुखार बहुत तेज हो और उसे जल्दी उतारना अभीष्ट हो तो भीगी चादर का उपाय किया जा सकता है। 'आरोग्य-साधन' पढ़कर इस उपाय को जान लेना चाहिए।

१६. मियादी बुखार न हो, परन्तु बहुत दिन टिक गया हो तो समझना चाहिए आबहवा बदलने की जरूरत है और बीमार को दूसरे प्रकार की आबहवा में ले जाना चाहिए। यह कोई जरूरी बात नहीं है कि ऐसी ही जगहों में ले जावें जो आरोग्य-वर्धन के लिए प्रसिद्ध हों।

१७. ऊपर जो उपाय बताये गये हैं वे तो आकस्मिक बीमारियों के लिए हैं; परन्तु पुराने और गहरे रोगों का भी जैसे कि क्षय, कोढ़, रक्त-पित्त आदि का इन तरीक़ों से इलाज किया जा सकता है; परन्तु इसके लिए अनुभवी की सलाह लेने और धीरज रखने की जरूरत है।

१८. दवाओं पर आधार रखने की आदत बुरी है। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि पुराने रोग तो दवा से मिटते ही नहीं।

१९. डाक्टरों को चाहिए कि वे रोगियों को सादे और मामूली उपचार बताया करें। उन्हें दवा पर उनका विश्वास न बैठाना चाहिए।

२०. डाक्टर की दवा पर बहुत बार वैसा ही अन्ध-विश्वास होता है जैसा कि जन्त्र, मन्त्र, तन्त्र आदि पर होता है। वास्तव में तो बीमार के ख़ून में रहनेवाली क़ुदरती जीवनी-शक्ति ही उसे नीरोग करती है। यदि वह शक्ति कमजोर न पड़े तो रोगी बच जाता है। उसे कमजोर न होने देने के लिए पूर्वोक्त उपचार काफ़ी हैं। इनके उपरान्त भी वह न बचे तो समझना चाहिए कि उसकी उम्र ख़तम हो चुकी थी। डाक्टरों और जन्त्र-मन्त्र वालों के पीछे रुपया बरबाद न करना चाहिए।

२१. ग्राम-सेवक के लिए सोडा-बाई-कार्ब, रेंडी का तेल, कुनैन और ऊपर लगाने के लिए आयोडीन से अधिक दवायें रखने की जरूरत नहीं है। इसके अलावा यदि बस्ती (एनीमा) का साधन उसके पास हो तो उसका औषधालय पूर्ण समझना चाहिए।

:८:

आहार

१. मांसाहार की मनुष्य के लिए कोई आवश्यकता नहीं है।

२. यह खयाल गलत और निराधार है कि मांसाहार छोड़ देने से ही हिन्दुओं का पतन हुआ है; क्योंकि हिन्दू राजाओं और सैनिक जातियों ने बहुत समय तक मांसाहार छोड़ दिया हो, ऐसा मालूम नहीं होता।

३. यह मानने का कोई कारण नहीं है कि लोग मांसाहार न करेंगे तो वे पूरे तौर पर सशक्त, नीरोग और बहादुर न हो सकेंगे।

४. नीरामिषाहार का समर्थन करते हुए भी मांसाहारी से घृणा करना उचित नहीं है। हिन्दुस्तान में बहुतेरी जातियां को तो महज़ गरीबी के कारण ही मांसाहार करना पड़ता है।

५. दूध भी एक तरह का मांस ही है। फिर भी उसमें फर्क़ यह है कि उसे प्राप्त करने के लिए प्राणी-बध-रूपी हिंसा नहीं करनी पड़ती। चित्तशुद्धि के लिए दूध का आहार विघ्न-कारक है।

६. परन्तु, निरामिष-भोजी हिन्दू-जाति के लिए कोई दूसरा वानस्पतिक पदार्थ जो काफी पुष्टि-वर्द्धक हो, दूध के बदले में बताया नहीं जा सकता। इस कारण दूध के लिए अपवाद किये बिना

छुटकारा नहीं है—यही नहीं, बल्कि ऐसी तजवीज़ करने की आवश्यकता है कि दूध सबको मिल सके।

७. निरामिषाहार में वन के पके फल अथवा बिना पकाया अन्न सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि यह प्रकृति का पैदा किया हुआ है। दूसरे सब प्राणी क़ुदरत का तैयार किया आहार मूल-रूप में ही खाते हैं। इसमें मनुष्य के लिए अपवाद होने का कोई कारण नहीं दिखाई देता।

८. फिर भी इस प्राकृतिक स्थिति में से गिरकर हम भोजन को पकाने के ऐसे जंजाल में पड़ गये हैं कि मनुष्य-जाति का बड़ा भाग अब केवल प्राकृतिक भोजन पर जीवन-निर्वाह करने के अयोग्य होगया है और ऐसी स्थिति पैदा हो गई है कि जो भोजन स्वाभाविक तौर पर हमें खाना चाहिए वह अब बिना विशेषज्ञ अन्न-शास्त्री की सलाह के ग्रहण नहीं किया जा सकता।

९. इसलिए पकाना बहुतों के लिए अनिवार्य हो रहा है। फिर भी पकाने का अर्थ सिर्फ उबालना, भूनना, सेंक लेना—इतना ही है। परन्तु मनुष्य यहींतक नहीं रुका। पकाने की सभ्यता (?) अंगीकार करने के बाद वह जीभ के अनुरंजन में फँसा और तरह-तरह के मसाले और पक्वान्नों की जातियों का आविष्कार कर डाला! शरीर का निर्वाह-भर करने के लिए सिर्फ दवा के तौर पर लेने के लिए जिसकी जरूरत समझी जानी चाहिए थी, वह बात जीवन का एक महत्वपूर्ण व्यवसाय बन बैठी है और उसके लिए जीवन का कितना समय और कितनी शक्ति फिजूल बरबाद होती है!!

१०. आरोग्य की दृष्टि से, विकारों की दृष्टि से और समय की दृष्टि से भी मसालों और तरह-तरह के भोजन-पदार्थों का उपयोग दोषयुक्त और त्याज्य है।

११. साग-तरकारी और फल अभी हम भारत में जितना खाते हैं, उससे अधिक खाने की आवश्यकता है।

१२. चाय और काफी ये बिल्कुल नये व्यसन हैं। ऐसे किसी पेय की हम लोगों को आदत नहीं थी। इन पेयों से कोई लाभ भी नहीं हुआ है। बल्कि यह दोनों हानि-कारक पदार्थ हैं। चाय की खेती में मानव-हिंसा बहुत होती है। इन पेयों ने ख्वामख्वाह ही हमारा भोजन-खर्च बढ़ा रक्खा है। इसकी बदौलत देहात में दूध रहने नहीं पाता और शक्कर के उपयोग में हानि-कारक वृद्धि हुई है।

१३. कितने ही विद्वानों का मत है कि चाय, काफ़ी, तमाखू, भाँग, गाँजा, अफीम आदि के व्यसनों में जो लिप्त हैं वे यदि यह दावा करें कि हम स्थिरवीर्य हैं तो यह नहीं माना जा सकता।

: ६ :

व्यायाम

१. बचपन से ही जिसे पूरा शारीरिक श्रम करना पड़ता है उसके लिए अखाड़े की कसरतों की शायद ही जरूरत रहती हो।

२. अखाड़े की कसरतें खास करके उन्हीं लोगों के लिए हैं जो बैठे-बिठाये धन्धा करते हैं, या जो सिपाहीगिरी करते हैं, अथवा उदर-निर्वाह के लिए पहलवानी का पेशा करते हैं।

३. अखाड़े की कसरतों से मनुष्य दीर्घायु और नीरोगी, अथवा बहादुर और श्रम-सहिष्णु अवश्य बनते हैं—ऐसा अनुभव नहीं देखा जाता। ऐसे बहुत-से कसरती लोग देखे जाते हैं जो शरीर से पहलवान होते हुए भी हृदय से कायर हैं और जो कसरत के अलावा दूसरे शारीरिक श्रम तथा सर्दी-गर्मी के प्रभावों से ढीले हो जाते हैं।

४. अखाड़े की कसरतें विकारवर्द्धक भी हैं; क्योंकि उनके फल-स्वरूप आमतौर पर शरीर में गरमी बढ़ती है और भोजन तथा भोग-शक्ति को वेग मिलता है।

५. फिर भी अखाड़े की कसरतों के बिल्कुल निषेध करने का अभिप्राय यहाँ नहीं है। दूसरे व्यायामों की तरह उनके लिए भी मर्यादित स्थान है।

६. संघ-व्यायाम—क़वायद—अति उपयोगी तालीम है और वह सब युवक-युवतियों के लिए आवश्यक है।

७. सात्विक कसरतों में, तन्दुरुस्ती के लिए महत्त्वपूर्ण व्यायाम है: घूमना। इसे व्यायामों का राजा यथार्थ ही कहा गया है।

८. इसके उपरान्त आसन और प्राणायाम भी सात्विक व्यायाम माने जा सकते हैं; क्योंकि इन व्यायामों का प्रधान उद्देश्य शरीर को भोगी बनाना नहीं, बल्कि शुद्ध बनाना है। इनसे कितनी ही बीमारियाँ भी दूर होती हैं।

९. परन्तु इन व्यायामों को भी जीवन का व्यवसाय बना डालना और उनसे मानी जानेवाली सिद्धियों के पीछे पड़ना इनका

दुरुपयोग करना है। जिस तरह मल-मूत्र द्वारा शरीर में संचित अशुद्धियों को निकाल डाला जाता है, उसी तरह आसन और प्राणायाम द्वारा भी कितने ही दोषों को निकाल डालना इन व्यायामों का हेतु है।

खण्ड ११ :: शिक्षा

:१:

शिक्षा का ध्येय
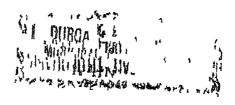
१. सा विद्या या विमुक्तये। जो मुक्ति के योग्य बनाती है वह है विद्या; शेष सब अविद्या है।

२. इस कारण जो शिक्षा चित्त की शुद्धि न करती हो, मन और इन्द्रियों को वश में रखना न सिखाती हो, निर्भयता और स्वावलम्बन न पैदा करे, उपजीविका का साधन न बतावे और गुलामी से छूटने का और आज़ाद रहने का हौसला, साहस और सामर्थ्य न पैदा करे, उसमें चाहे जानकारी का खजाना कितना ही भरा हो, कितनी ही तार्किक कुशलता और भाषा-पाण्डित्य हो, वह वास्तविक नहीं, अधूरी है।

: २ :

अराष्ट्रीय शिक्षा

१. ८०-८५ फ़ीसदी लोगों के जीवन की आवश्यकताओं का विचार करने के बजाय मुट्ठी-भर लोगों की अथवा राज्य के कुछ विभागों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर जो शिक्षा दी जाती हो उसे राष्ट्रीय-शिक्षा हरगिज़ नहीं कह सकते। वह ग़लत शिक्षा है—और इसलिए उसे अविद्या ही कहना चाहिए।

२. ऐसी शिक्षा ने शिक्षित और अशिक्षित लोगों में बड़ी खाई पैदा करदी है, और विद्वानों को लोगों के अगुआ, पथ-दर्शक और प्रतिनिधि बनाने के बदले जनता से अलग रखकर ऐसा बना दिया है कि न वे उनके जीवन और भावनाओं को समझ सकते हैं, न उनमें दिलचस्पी ले सकते हैं और न उनका पक्ष उपस्थित करने के योग्य ही रह गये हैं।

३. इस शिक्षा ने अपना महत्त्व बढ़ाने के लिए भव्य भवनों, महान् साधनों, प्रचुर पुस्तकों, मृगतृष्णा की तरह दूर से लुभाने वाले लाभों की आशाओं और चटक-मटक आदि का बड़ा आडम्बर रचकर लोगों को क़र्ज़ में डुबो दिया है।

४. इस शिक्षा ने लोगों के अन्दर अनेक वहम पैदा कर दिये हैं—जैसे कि अक्षर-ज्ञान (अर्थात् पुस्तकी शिक्षा) और शिक्षा दोनों एक ही चीज़ हैं, और उसके बिना शिक्षा मिल ही नहीं सकती; शिक्षित मनुष्य का, मज़दूरों का जीवन बिताना, अपने हाथों से काम करना, अपनी शिक्षा को लज्जित करना है; 'शिक्षित' मनुष्य का मतलब है अंग्रेजी पढ़ा हुआ, आदि।

५. इस शिक्षा ने लोगों को धर्म से विमुख कर दिया है और धर्म तथा संयम के सदियों से पोषित संस्कारों को मिटाने का ही काम किया है।

६. चित्त-शुद्धि के महत्त्वपूर्ण अंग—ईश्वर, गुरु, बड़े-बूढ़ों की भक्ति, नीतिमय जीवन के लिए आग्रह और संयम तथा तप में श्रद्धा—इन विषयों में, इस शिक्षा ने, पढ़े-लिखों को सशंक और नास्तिक बनाने की दिशा में प्रयत्न किया है।

७. यदि कुछ लोग पूर्वोक्त परिणामों से बच गये हैं तो उसका श्रेय इस शिक्षा को नहीं,बल्कि उनके घर के वातावरण को ही है।

८. इस शिक्षा ने भोग और सम्पत्ति में इतनी श्रद्धा बैठा दी है कि उन्हें कम करने के डर से ही शिक्षित लोग पस्त-हिम्मत हो जाते हैं और जो स्पष्टरूप से धर्म दिखाई देता है उसका आचरण करने में असमर्थता प्रदर्शित करते हैं।

:२:

राष्ट्रीय शिक्षा

१. भारत की राष्ट्रीय-शिक्षा की रचना इस विचार पर होनी चाहिए कि भारत के ८०-८५ फी सदी लोगों को किस प्रकार का जीवन बिताना पड़ता है।

२. भारत के ८०-८५ फी सदी लोग प्रत्यक्ष या गौण रूप से खेती पर जीविका चलाते हैं। इसलिए उनकी शिक्षा की योजना इस दृष्टि से होना चाहिए कि जिससे वे अच्छे किसान बन सकें और खेती से संलग्न धन्धों का ज्ञान प्राप्त कर सकें।

३. शिक्षा के फल-स्वरूप जीविका का प्रश्न हल हो जाना चाहिए—अतएव औद्योगिक शिक्षा प्रधान अंग होना चाहिए।

४. जबतक शिक्षा के द्वारा जीविका का प्रश्न हल नहीं होता तब-तक संस्कृति और ईश्वर-ज्ञान देनेवाली शिक्षा की बातें फिज़ूल हैं।

५. ऐसी शिक्षा या तो खेतों में या देहात में ही दी जा सकती है—क़स्बों में या शहरों में नहीं।

६. और यदि शिक्षा के लिए लिखना-पढ़ना जानना आवश्यक ही हो तो फिर भारत की करोड़ों जनता को शिक्षित बनने के लिए बीसों साल चाहिए।

७. परन्तु अक्षर-ज्ञान का (पढ़ने-लिखने के ज्ञान का) विरोध न करते हुए भी कहना चाहिए, कि शिक्षा बिना इसके भी दी जा सकती है और दी जानी चाहिए।

८. लिखने-पढ़ने का ज्ञान न होते हुए भी मनुष्य गिनती सीख सकता है, अपने उद्योग-धन्धे-सम्बन्धी प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है, साहित्य समझ सकता है, सुन सकता है और बर-ज़बान कर सकता है एवं अधिक सामर्थ्यवान् हो तो साहित्य की सृष्टि भी कर सकता है। इसके अलावा यदि उसमें सत्य की लगन हो तो वह ईश्वर-ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है।

९. हमारे सैंकड़ों शिक्षित मनुष्यों का ज्ञान-भाण्डार, अनेक पुस्तकों के पढ़ चुकने पर भी, इतना थोड़ा होता है कि इतना भण्डार प्राप्त करने के लिए लाखों लोगों को लिखना-पढ़ना सीखने की झंझट में डालने के बजाय यदि वे उन्हें ज़बानी-शिक्षा देने

लगें तो यह अनुभव होगा कि बहुतेरे वर्षों में मिलनेवाली शिक्षा थोड़े समय में मिल गई।

१०. फिर भारतवर्ष की शिक्षा-पद्धति बिना खर्च की होनी चाहिए।

११. अतएव इस शिक्षा के थोड़े वर्ष में पूर्ण होने का मोह हमें न रखना चाहिए। उद्योग करते हुए और आजीविका प्राप्त करते-करते भी यह शिक्षा जन्म-भर चल सकती है।

१२. इस शिक्षा में पुस्तकों पर कम-से-कम आधार रक्खा जायगा। इसका यह अर्थ नहीं कि पुस्तकें रहेंगी ही नहीं; परन्तु वाचन की अपेक्षा श्रवण, दर्शन और क्रिया के द्वारा वह अधिक दी जायगी।

:४:

औद्योगिक शिक्षा

१. शिक्षा का प्रारम्भ अक्षर-ज्ञान से नहीं, बल्कि औद्योगिक शिक्षा से होना चाहिए। ऐसे धन्धों का ज्ञान जिनसे जीवन-निर्वाह हो सके, बच्चों को लड़कपन से ही देना चाहिए।

२. खेती और वस्त्र ये दो भारत के राष्ट्रीय उद्योग हैं। अतएव प्रत्येक पाठशाला में इन दो धन्धों की शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए।

३. इन दो उद्योगों का प्रारम्भिक ज्ञान सबके लिए अनिवार्य होना चाहिए। क्योंकि जो इनके द्वारा जीविका उपार्जन करना नहीं चाहते हैं उनके लिए भी इन्द्रियों की शिक्षा की दृष्टि से इनका ज्ञान महत्त्वपूर्ण है।

४. बढ़ई, लुहार, रंगरेज आदि के धन्धे खेती और वस्त्र-उद्योगों के सहायक हैं और उनके बलपर चलते हैं। इसलिए प्रत्येक किसान और बुनकर को इनकी भी तालीम मिलनी चाहिए।

५. गन्ना, सन, तिलहन आदि की खेती तथा आस-पास के जंगलों में होनेवाली वनस्पतियों से अनेक प्रकार के उद्योग चलाये जा सकते हैं। इन उद्योगों की खोज करके उनकी भी शिक्षा उन-उन स्थानों में देना चाहिए।

:५:

बाल शिक्षा

१. बालकों की शिक्षा का श्रीगणेश अक्षर-ज्ञान से नहीं, बल्कि सफ़ाई की शिक्षा से होना चाहिए।

२. बालक का शिक्षक (बल्कि शिक्षिका) उसे वर्णमाला सिखाने की जल्दी न करे; बल्कि अपने हाथ, पाँव, नाक, आँख, दाँत, नख आदि को साफ़ रखना सिखावे। उन्हें नहाना, कपड़े धोना तथा रूमाल से नाक वग़ैरा साफ़ करना बतावे।

३. इसके बाद वह बच्चे के हाथ में तकली और चरखा दे देगा और कातने तक की सब क्रियायें उसे धीरज के साथ बतावेगा और उनका रफ़्त करा देगा।

४. फिर जबतक वे लिखना-पढ़ना न सीखें तबतक उन्हें अज्ञान में न रक्खेगा; बल्कि कहानियों द्वारा इतिहास, भूगोल का, कथाओं और भजनों के द्वारा धर्म का, प्रत्यक्ष अवलोकन से पदार्थ-विज्ञान का, वनस्पतियों और भूमि तथा आकाश का ज्ञान

करावेगा एवं प्रत्यक्ष पदार्थों से गणित में प्रवेश करावेगा—और इस तरह लिखना-पढ़ना जानने के पहले उसे इतना ज्ञान करा देगा जो ३-४ पुस्तकें पढ़ने तक आ सकता है।

५. इसके अलावा वह अक्षर लिखना सिखाने के पहले उन्हें चित्र और गोलाई खींचना तथा अपने विचारों को चित्रों—आकृतियों के द्वारा प्रदर्शित करना सिखावेगा।

६. अनेक भजन, श्लोक, कवितायें उसे कण्ठाग्र कराके उच्चार-शुद्धि करा लेगा और तरह-तरह का साहित्य उसे ज़बानी करा देगा।

७. फिर वह उसे सुन्दर और स्पष्ट अक्षर लिखना सिखावेगा। इतनी देर के बाद अक्षर लिखना सिखाने से उसका नुक़सान नहीं हुआ है, बल्कि शक्ति बढ़ी है यह अनुभव होगा।

: ६ :

ग्राम शिक्षा

१. इस वहम को दिमाग़ में से निकाल डालने की ज़रूरत है कि देहात के और बड़ी उम्र के लोग तभी शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं जब उन्हें लिखना-पढ़ना अर्थात् अक्षर-ज्ञान आ जाय।

२. हाँ, जिन्हें सामर्थ्य और उत्साह हो उन्हें अक्षर-ज्ञान देना तो ठीक है—और उन्हें प्रोत्साहन भी देना चाहिए और पूरी सुविधा कर देनी चाहिए।

३. परन्तु अधिकांश बड़ी उम्रवालों को लिखने-पढ़ने में दिलचस्पी पैदा होना कठिन है। सो ऐसा न होना चाहिए कि ये लोग बड़ी उम्रवालों के मदरसों में आ ही न सकें।

४. देहात का पुस्तक-भाण्डार एक सीमा में ही रहेगा और देहातियों की पुस्तक खरीदने की शक्ति तो उससे भी कम होगी—इसलिए, थोड़ा-बहुत लिखना-पढ़ना सीख लेने पर उन्हें अपने-आप अपनी ज्ञान-वृद्धि करने की शक्ति आ जाती है—ऐसा अनुभव नहीं होता।

५. इसलिए जो लोग शिक्षित हैं वे यदि दूसरों को पढ़-पढ़कर सुनावें और समझावें तो देहात में एक पढ़े-लिखे के लिए ज्ञान-वृद्धि जितनी सम्भवनीय है उतनी बे-पढ़े के लिए भी हो सकती है।

६. यह बात नहीं कि पढ़ने-लिखने से समझने की शक्ति अवश्य बढ़ती है। बहुत बार तो एक बुद्धिमान देहाती सुन-सुनाकर जितना ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह पढ़े-लिखे के ज्ञान से भी अधिक होता है।

७. ज्ञान का मूल स्रोत पुस्तकों में नहीं है, बल्कि अवलोकन, अनुभव और विचार-शक्ति में है—इस बात को भूल जाने से हम पुस्तकों के ज्ञान पर बहुत अधिक जोर देते हैं।

: ७ :

स्त्री-शिक्षा

१. पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी शिक्षा पाने का पूरा अधिकार है। और जिस प्रकार पुरुष को शिक्षा प्राप्त करने की अनुकूलता होती है उसी प्रकार स्त्रियों को भी होना चाहिए।

२. यह संस्कार निर्मूल कर देने योग्य है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्री का दरजा और अधिकार कम है।

३. पुरुषों की तरह शिक्षा प्राप्त करने में स्त्रियों के लिए कोई रुकावट न होनी चाहिए; फिर भी ६० फ़ीसदी स्त्रियों को मातृपद प्राप्त करना पड़ता है और गृहस्थी के काम करने पड़ते हैं—इस बात को ध्यान में रखकर स्त्री-शिक्षा की आयोजना होनी चाहिए।

४. इसका अर्थ यह हुआ कि उन स्त्रियों को भी, जो मातृपद को न ग्रहण करना चाहती हों या जिनपर गृहस्थी के काम का बोझ न पड़नेवाला हो, उन्हें मातृपद या गृहिणी-कर्म-सम्बन्धी शिक्षा उसी प्रकार दी जानी चाहिए जिस प्रकार किसान या बुनकर जिन्हें न बनना हो उन्हें भी ८५ फीसदी लोगों के धन्धों का साधारण ज्ञान होना चाहिए।

: ८ :

धार्मिक-शिक्षा

१. धार्मिक-शिक्षा से रहित शिक्षा शिक्षा शब्द के योग्य ही नहीं है।

२. प्रत्येक बालक को उसके धर्म के मुख्य ग्रन्थों, महापुरुषों और संतों का तथा उस धर्म के मन्तव्यों का श्रद्धा-पूर्वक ज्ञान कराना चाहिए।

३. यहाँ धर्म का अर्थ वैदिक, इस्लाम, ईसाई, यहूदी, पारसी, सिक्ख, जैन, बुद्ध इत्यादि मुख्य धर्म ही समझना चाहिए, उनके सम्प्रदाय या उपशाखा नहीं। सम्प्रदायों और उप-शाखाओं के संस्कार तो उनकी अपनी संस्थायें ही डाल सकती हैं।

४. बालक को अपने धर्म के अलावा दूसरे महान् धर्मों का

भी समभाव-पूर्वक साधारण ज्ञान देने का यत्न करना चाहिए।

५. मनुष्य को जिस प्रकार शरीर के लिए आहार और श्रम के लिए आराम की जरूरत है उसी प्रकार चित्त की उन्नति के लिए धर्म के आलम्बन की जरूरत है। प्रत्येक धर्म ऐसे आलम्बन का काम देने में समर्थ है और इस कारण, किसीको धर्मान्तर करने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक धर्म के मनुष्य-प्रचारित होने के कारण, उसमें कुछ-न-कुछ खराबी रहती ही है और आती भी रहती है। उसे बार-बार शुद्ध करने की जरूरत रहती है। फिर भी कोई धर्म सर्वथा त्याज्य नहीं होता। हमें ऐसी दृष्टि रखनी चाहिए कि जिससे धार्मिक शिक्षा के फल-स्वरूप यह संस्कार पड़े।

६. योंतो भिन्न-भिन्न मानव-समाजों में भिन्न-भिन्न धर्मों की उत्पत्ति होने के कारण उनमें समाज-रचना, विधि-विधान तथा रूढ़ियों के परस्पर-विरोधी भेद दिखाई देते हैं—फिर भी प्रत्येक धर्म में इतनी बातें सामान्य-रूप से मिलती हैं—(१) सत्यरूपी परमेश्वर की शोध और उसका आलम्बन, (२) नीति-परायण तथा संयत जीवन, (३) दूसरों के लिए अपना क्षय करने की तथा स्वार्थ की अपेक्षा दूसरों के हित को साधने की भावना। इन संस्कारों का निरन्तर बड़े क्षेत्रों में विकास धार्मिक जीवन का विकास है। इसलिए धार्मिक शिक्षा में इन अंगों का महत्त्व समझा-कर बाह्य भेदों को गौण समझने का पाठ पढ़ाया जाना चाहिए।

: ६ :

शिक्षा का माध्यम

१. उच्च-से-उच्च शिक्षा तक के लिए शिक्षा का माध्यम स्वभाषा ही होना चाहिए।

२. अंग्रेजी-जैसी अत्यन्त विजातीय भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने से शिक्षा प्राप्ति के लिए किया जाने वाला बहुतेरा परिश्रम व्यर्थ गया है और जाता है।

३. यह स्थिति कि अँग्रेजी के ज्ञान बिना उच्च-शिक्षा प्राप्त की ही नहीं जा सकती, दयाजनक और लज्जापूर्ण है।

४. शिक्षा जो ग्रामों तक नहीं पहुँच सकी है उसका एक कारण यह भी है कि वह स्वभाषा के द्वारा नहीं दी गई है।

५. अँग्रेजी भाषा के शिक्षा के माध्यम बना दिये जाने से देशी भाषाओं की उन्नति नहीं हुई और शिक्षित पुरुषों की स्वभाषा-सेवा का प्रायः इतना ही अर्थ रह गया है कि अँग्रेजी भाषा के विचारों का अनुवाद संस्कृत या फ़ारसी में करके स्वभाषा के प्रत्यय लगा कर काम चला लेना। इस कारण यह साहित्य आम लोगों में बहुत नहीं पहुँच सका है और न उनपर असर ही डाल सका है।

६. पर-भाषा के माध्यम का एक यह भी दुष्परिणाम हुआ है कि कितने ही शिक्षित लोग विचार भी अँग्रेजी में ही कर सकते हैं, स्वभाषा में नहीं। यह बड़ी खेद-जनक स्थिति है।

७. गुजरात विद्यापीठ जैसी छोटी-सी संस्था में भी गुजराती को शिक्षा का माध्यम बनाने से गुजराती भाषा की कितनी समृद्धि

हुई है, यह पिछले कुछ वर्षों के साहित्य के इतिहास से जाना जाता है।

८. लोकमान्य ने मराठी भाषा के द्वारा ही अपने प्रान्त की सेवा करने का जो निश्चय किया उसके कारण हुई मराठी भाषा की समृद्धि इस बात की अच्छी तरह गवाही देती है।

: १० :

अंग्रेजी भाषा

१. अँग्रेजी भाषा के ज्ञान के बिना शिक्षा अधूरी रहती है, इस वहम को दूर करने की जरूरत है।

२. अँग्रेजीदाँ लोगों का कर्त्तव्य है कि अँग्रेजी के विस्तृत साहित्य में से बढ़िया रत्नों को चुन-चुन कर अपनी-अपनी भाषा में पिरोवें। इन रत्नों का आनन्द प्राप्त करनेके लिए लाखों लोगों को अँग्रेजी भाषा सीखने की झंझट में डालना क्रूरता नहीं तो क्या है?

३. हाँ, यह सच है कि व्यवहार में अँग्रेजी भाषा की जरूरत पड़ती है; परन्तु ऐसा व्यवहार तो सिर्फ मुट्ठी-भर लोगों को ही करना पड़ता है। फिर उसका भी बहुतांश तो अकारण अथवा हमारी गुलामी के बदौलत ही अँग्रेजी में होता है। थोड़े-से अँग्रेज अधिकारियों की सुविधा के लिए सारे देश पर अँग्रेजी सीखने का बोझ डालना, यह भी देश पर एक भारी कर का बोझ ही है जो कि ब्रिटिश राज्य को दिया जाता है।

४. अँग्रेजी भाषा को अनिवार्य बनाकर ब्रिटिश राज्य ने अपने पाये मजबूत बनाये हैं, भारत को भाषा की गुलामी मंजूर कराके

शरीर से ही नहीं, मन से भी गुलाम बना लिया है। हथियार छीनकर जो हानि देश को पहुँचाई गई है उससे कुछ अधिक ही हानि अँग्रेजी लादने से हुई है।

५. अँग्रेजी-भाषा के ज्ञान के बिना देश के महत्त्वपूर्ण कार्यों व्यवहारों में भाग ले ही नहीं सकते, इस तरह जो उसकी शिक्षा प्रायः अनिवार्य बना दी गई है उसके कारण शिक्षा-शास्त्र तथा राजनीति दोनों दृष्टियों से देश को बड़ी हानि पहुँची है।

६. हाँ, यह बात ठीक है कि यूरोप की विद्यायें सीखने के लिए यूरोप की किसी भाषा का ज्ञान आवश्यक है; परन्तु उसके लिए तो, आज की तरह, इतने वर्ष इतना समय लगाने और इतना परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए तो इतना ही ज्ञान बस है कि हम उस भाषा को समझ लें। आज तो अँग्रेजी भाषा के लेखन और उच्चारण पर आधिपत्य प्राप्त करने के लिए इतना भगीरथ प्रयत्न किया जाता है मानों वह हमारी ही मातृभाषा हो अथवा उससे भी बढ़कर हो। और फिर वर्षों के उद्योग के बाद भी बहुतेरे तो थोड़ा-बहुत ही आधिपत्य प्राप्त कर पाते हैं।

७. हम स्वभाषा या पड़ौसी प्रान्त की भाषा को शुद्ध न लिख सकें, न बोल सकें, इससे हमें शर्म नहीं आती; परन्तु अँग्रेजी भाषा की भूलों से शर्मिन्दा होते हैं अथवा ऐसी भूलें करने वालों का मज़ाक उड़ाते हैं—इससे ज़ाहिर होता है कि अँग्रेजी भाषा ने हमपर कितना जादू चला दिया है। सच पूछा जाय तो अत्यन्त विजातीय भाषा होने के कारण, अँग्रेजी के उच्चारण और लेखन में हमसे ग़लतियाँ हों तो इसमें आश्चर्य की कौनसी बात है?

८. परन्तु इस जादू के बदौलत हम शिक्षा-काल में आधे या उससे भी अधिक वर्ष तो भाषा पर ही अधिकार करने में खर्च कर देते हैं। इस प्रकार विद्यार्थी के कितने ही श्रम और समय का दुर्व्यय होता है।

: ११ :

भाषा-ज्ञान

१. व्यवस्थित शिक्षण में, जहाँतक भाषाओं का सम्बन्ध है, सबसे प्रथम स्थान स्वभाषा को मिलना चाहिए। जबतक स्वभाषा में शुद्ध लिखना, पढ़ना और बोलना न आ जाय तबतक अँग्रेजी जैसी विजातीय भाषा की शिक्षा आरम्भ न करना चाहिए।

२. स्वभाषा के बाद दूसरा स्थान राष्ट्र-भाषा को मिलना चाहिए। राष्ट्र-भाषा तो हमारी हिन्दुस्तानी ही है। इसके विषय में आगे और कहा जायगा।

३. तीसरा स्थान मूलभाषा को मिलेगा—अर्थात हिन्दू विद्यार्थियों के लिए संस्कृत, मुसल्मानों के लिए अरबी या फ़ारसी, पारसियों के लिए पहलवी इत्यादि। ये भाषायें स्वभाषा और स्वधर्म की मूलभूत होने के कारण उनका ज्ञान बहुत महत्त्व रखता है। और जो मनुष्य अच्छी शिक्षा प्राप्त करना चाहता है उसके लिए इनका साधारणतः अच्छा ज्ञान होना आवश्यक है।

४. भाषाओं को सीखने की जिन्हें रुचि और शक्ति भी है, उनके लिए हिन्दुस्तान की कुछ प्रान्तीय भाषाओं का सीखना आवश्यक है। ख़ास करके द्राविड़ी भाषाओं में से किसी एक का

अध्ययन करना उचित है। और कोई एक संस्कृत-मूलक भाषा भी होना चाहिए।

४. शिक्षा की दृष्टि से, अँग्रेजी का नम्बर इनके बाद आता है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसका मूल्य अधिक आँका जाता है; फिर भी स्वभाषा, राष्ट्र-भाषा और मूलभाषा के बाद भले ही इसे स्थान दिया जा सकता है।

: १२ :

राष्ट्र-भाषा

१. हिन्दुस्तानी अर्थात खड़ी बोली जिसमें हिन्दी और उर्दू दोनों मिश्रित रहती हैं—देहली, लखनऊ, प्रयाग में आमतौर पर बोली जानेवाली भाषा—हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा है। दक्षिण भारत को छोड़कर साधारणतः सारे भारत में यह सैंकड़ों वर्षों से प्रचलित है।

२. शिक्षित मनुष्य को यह भाषा अच्छी तरह बोलने, लिखने और पढ़ने में समर्थ होना चाहिए।

३. यह भाषा नागरी और उर्दू दोनों लिपियों में लिखी जाती है। दोनों लिपियों का ज्ञान प्रत्येक के लिए आवश्यक है।

४. राष्ट्रभाषा का अर्थ यह नहीं है कि प्रान्तीय भाषायें गौण बना दी जायँ, बल्कि उसकी आवश्यकता तो राष्ट्रीय व्यवहार के लिए है। राष्ट्रभाषा का पद इसे नवीन नहीं मिला है; जो बात प्रचलित है उसीको हम अंगीकार कर रहे हैं।

: १३ :

इतिहास

१. इतिहास हमें गलत उद्देश से और गलत दृष्टि-बिन्दु से पढ़ाया जाता है। इस कारण इतिहास के रूप में जो घटनायें हमें पढ़ाई जाती हैं वे चाहे भले ही सच हों, फिर भी भूतकाल की स्थिति का उससे गलत ज्ञान मिलता है।

२. राज-वंशों की उथल-पुथल और युद्धों के वर्णनों को प्रजा का—राष्ट्र का—इतिहास नहीं कहते। फिर भारतवर्ष जैसे राष्ट्र का तो हरगिज़ नहीं। इसे तो उन फोड़ों का इतिहास कहना चाहिए जो प्रजा-शरीर पर कभी-कभी उठ आया करते हैं। युद्ध राष्ट्र-जीवन में नित्य-जीवन नहीं है, बल्कि उल्कापात है। उसके नित्य-जीवन में तो समझौता, भाईचारा, परस्पर कष्ट-सहन-प्रियता और सहयोग होता है। परन्तु इनके द्वारा होनेवाली प्रगति का वर्णन इतिहास बहुत गौण रूप में करता है। और इस कारण वह भूत-काल का भ्रमात्मक चित्र हमारे सामने खड़ा करता है।

३. यदि इस तरह से इतिहास की जाँच की जाय तो उसके नित्य व्यवहार में हिंसामय कलह की अपेक्षा अहिंसामय सत्याग्रह के प्रयोग अधिक दिखाई देंगे।

४. परन्तु इतिहास की वर्तमान शिक्षा में इतना ही दोष नहीं है। आज-कल तो इतिहास की शिक्षा जान-बूझ कर इस तरह दी जाती है कि जिससे मिथ्याभास उत्पन्न हो, और इसलिए अंग्रेजों के आने के पहले के काल का चित्र बहुत बिगड़ा हुआ खींचा

जाता है। एवं उसमें लड़कपन से ही ऐसी प्रेरणा की जाती है कि जिससे अंग्रेजी-राज्य के प्रति हमारी मोह-मूर्च्छा अक्षुण्ण बनी रहे। इसमें केवल असत्यता ही नहीं, अप्रामाणिकता भी है।

: १४ :

शिक्षा के अन्य विषय

१. संगीत की शिक्षा पर भारतवर्ष में बहुत ही कम ध्यान दिया गया है। चित्त के भावों को जाग्रत करने के लिए संगीत बहुत अच्छा साधन है और इस तरह सात्विक संगीत आध्यात्मिक विकास में बड़ी आवश्यक सहायता करता है। बालक की इस महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक शक्ति को सात्विक रीति से अवश्य शिक्षित करना चाहिए।

२. कर्मेन्द्रियों के और समूहों के कार्यों में क़वायद की तालीम के अभाव से अव्यवस्था, शक्ति का अधिक व्यय, शोरगुल और गोलमाल, एवं बहुत जानोमाल की बरबादी भी होती है। क़वायद के ढंग से उठने की, चलने की, और काम करने की, और दस-पाँच आदमियों के एकत्र होते ही क़वायदी ढंग से सुव्यवस्थित हो काम करने की आदत हमें पड़ जाना चाहिए। इस कारण क़वायद की तालीम की ओर पाठशालाओं में अच्छी तरह ध्यान दिया जाना चाहिए और बड़ी उम्र के लोगों को भी इसकी तालीम ले लेना चाहिए।

३. शस्त्रास्त्र का त्याग भारतवर्ष में जबरन् करवाया गया है—भारत के लोगों ने अपनी इच्छा से नहीं किया है। शस्त्र धारण

करने का और सैनिक शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार लोगों को है। इसलिए इसकी तालीम भी शिक्षा का आवश्यक विषय है।

: १५ :

शिक्षक

१. यह विचार दोषयुक्त है कि शिक्षक सिर्फ अपने विषय में ही प्रवीण हो तो काफ़ी है; उसका चरित्र कैसा भी हो तो कोई हर्ज नहीं।

२. चरित्र-हीन परन्तु प्रवीण, शिक्षक से शिक्षा प्राप्त करके विद्यार्थी किसी विषय में प्रवीणता प्राप्त करें—इससे यह हज़ार गुना बेहतर है कि वह किसी चारित्र्यवान, परन्तु कम प्रवीण, शिक्षक से कम विद्या प्राप्त करें।

३. जो शिक्षक अपना विषय पढ़ाने की ही अपनी जिम्मेदारी समझता है, विद्यार्थी की चरित्र-विषयक जिम्मेदारी नहीं, उसे शिक्षक नहीं कह सकते।

४. आदर्श शिक्षक विद्यार्थी के अध्ययन में ही नहीं, बल्कि उसके सारे जीवन में दिलचस्पी लेगा और उसके हृदय में प्रवेश करने का प्रयत्न करेगा।

५. ऐसा शिक्षक विद्यार्थी को भयानक या यमराज जैसा नहीं प्रतीत होगा बल्कि पूज्य होते हुए भी माता से अधिक निकट मालूम होगा।

६. शिक्षक को अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए और अपने विषयों में ताज़ी-से-ताज़ी जानकारी प्राप्त करके तैयार होकर ही वर्ग में जाना चाहिए।

७. इसका यह अर्थ हुआ कि शिक्षक को विद्यार्थी से भी अधिक अच्छा विद्यार्थी-जीवन बिताना चाहिए और अध्ययन-रत रहना चाहिए।

८. पूरी तैयारी किये बिना वर्ग लेनेवाला शिक्षक विद्यार्थी का अमूल्य समय बिगाड़ता है।

९. शिक्षक को चाहिए कि वह पढ़ाने की अच्छी-से-अच्छी रीति की खोज करता रहे और प्रत्येक विद्यार्थी की खासियत को समझकर ऐसी विधि खोज निकाले जिससे उस विषय में उसकी गति और दिलचस्पी पैदा हो जाय। विद्यार्थियों को शंकायें पूछने का अवसर देकर उनका समाधान करना चाहिए।

१०. मारने, गाली देने, तिरस्कार करने, या और किसी सजा देने की मनाई शिक्षकों को होनी चाहिए।

११. जो शिक्षक अपना काम भली-भाँति करना चाहेगा, वह बड़े वर्गों को अच्छी तरह न पढ़ा सकेगा—यह स्पष्ट ही है।

११. सैकड़ों विद्यार्थियों की पाठशालायें भी वाञ्छनीय नहीं हैं।

: १६ :

विद्यार्थी

१. विद्या की शोभा विनय से है; यही नहीं, बल्कि विनय के बिना विद्या प्राप्त भी नहीं होती।

२. विद्यार्थी को शिक्षक के प्रति गुरुभाव अर्थात् श्रद्धा, विनय और सेवाभाव रखना चाहिए। यह श्रद्धा रखनी चाहिए कि शिक्षक मेरे हित के ही लिए मुझे कहते हैं।

३. यदि यह निश्चय हो जाय कि शिक्षक ऐसी श्रद्धा के योग्य नहीं है, तो विनय को न छोड़कर ऐसे शिक्षक को ही छोड़ देना चाहिए।

४. विद्यार्थी को उचित है कि वह शिक्षकों से प्रश्न पूछ-पूछ कर अपनी शंकाओं का समाधान करता रहे।

५. विद्यार्थी को ऐसी अधीरता न दिखानी चाहिए मानों वह शिक्षक से उसका सारा ज्ञान आज ही पी लेना चाहता है। बात यह है कि जिस विद्यार्थी ने अपने विनय के द्वारा शिक्षक के मन को प्रसन्न कर दिया है वह तो ख़ुद ही अपना सारा ज्ञान विद्यार्थी को देने के लिए अधीर हो जाता है। जबतक शिक्षक के मन की ऐसी स्थिति न हो तबतक विद्यार्थी को धीरज रखना चाहिए।

६. परन्तु जब शिक्षक ज्ञान की वृष्टि करने लगे तब विद्यार्थी को गाफ़िल रह कर वह मौक़ा न गँवा देना चाहिए।

: १७ :

छात्रालय

१. छात्रालय का अर्थ विद्यार्थी को रहने और खाने की सुविधा कर देने वाला भोजनालय नहीं है।

२. छात्रालय का महत्त्व पाठशाला से भी अधिक है। छात्रालय तो एक तरह से माता-पिता के घर की पूर्ति का प्रयत्न है। यही नहीं, बल्कि जो शुभ संस्कार माता-पिता के घर में नहीं मिल सकते, उन्हें विद्यार्थी पर डालना उसका उद्देश्य है।

३. इस कारण पाठशाला के आचार्य या वर्ग-शिक्षक की

अपेक्षा छात्रालय का गृहपति अधिक सुयोग्य व्यक्ति होना चाहिए। उसमें शिक्षक के अलावा माता-पिता के गुण भी होने चाहिएँ।

४. उसकी निगाह विद्यार्थियों के प्रत्येक काम और साथी पर पड़ती रहनी चाहिए।

५. लड़के जब एक जगह रहते हैं तब उनके गुप्त और प्रकट दोष दिखाई देते हैं। गृहपति इसके विषय में बहुत चौकन्ना रहे।

६. छात्रालय में पंक्ति-भेद न होना चाहिए।

७. जहाँतक हो, छात्रालत में नौकर-चाकर न रखने चाहिएँ और निजी काम तो विद्यार्थियों को खुद ही करने चाहिएँ।

८. छात्रालय में खर्च उतना ही आना चाहिए जितना कि ग़रीब देश उठा सकता है।

९. विद्यार्थियों को नियमित रूप से मिष्टान्न खिलाने का रिवाज अच्छा नहीं है।

१०. छात्रालय ऐसा होना चाहिए जहाँ सादगी, मितव्यता, और संस्कारिता के दर्शन हों। छात्रालय में जाकर विद्यार्थी अधिक शौकीन, उड़ाऊ और उच्छृंखल हो जाय तो यह छात्रालय की सफलता नहीं कही जा सकती।

: १८ :

शिक्षा का खर्च

१. शिक्षा बहुत खर्चीली हो गई है, यह बात सूचित करती है कि शिक्षा की दिशा ठीक नहीं है।

२. शिक्षा इस तरह दी जानी चाहिए कि जिससे शिक्षक और

विद्यार्थी अपने अन्न-वस्त्र का खर्च अपनी मजदूरी में से ही प्राप्त कर सकें। सिर्फ मकान तथा दूसरे साधनों आदि का खर्च जनता से लेना चाहिए।

३. आज यह बात पार नहीं पड़ सकती, क्योंकि शिक्षक तथा विद्यार्थी दोनों को मिहनत करने की न तो शिक्षा मिली है न आदत ही है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस दिशा में प्रयत्न अवश्य होना चाहिए।

४. जितनी शिक्षा बच्चे को अपने घर में ही मिल सके उतना उसे पाठशाला में न रहना पड़ेगा। इसके लिए माँ-बाप को संस्कारवान् बनाना चाहिए। इससे शिक्षा का खर्च अपने-आप कम हो जायगा।

५. जिसे प्राथमिक शिक्षा कहते हैं वह इस तरह अधिकांश में घर में ही मिल जानी चाहिए।

: १६ :

उपसंहार

[पूज्य गांधीजी ने 'सत्याग्रहाश्रम के इतिहास' में शिक्षा-सम्बन्धी प्रकरण में अपनी राय का उपसंहार जिस प्रकार किया है वह कुछ पुनरुक्ति दोष को स्वीकार करके भी ज्यों-का-त्यों यहाँ दे देना उचित है।—लेखक]

शिक्षा के सम्बन्ध में मेरे विचार इस प्रकार हैं—

प्रथम काल

१. बालक और बालिकाओं को एकसाथ पढ़ाना चाहिए।

बाल्यावस्था आठ वर्ष तक समझनी चाहिए।

२. ख़ास करके शारीरिक काम में उनका समय जाना चाहिए और वह भी शिक्षाशास्त्रज्ञ की देख-भाल में। शारीरिक काम को शिक्षा का एक विभाग समझ लेना चाहिए।

३. प्रत्येक बालक-बालिका की मनोवृत्ति देखकर उसे काम देना चाहिए।

४. प्रत्येक काम लेते हुए उस कार्य का कारण उन्हें बताना चाहिए।

५. जब से बालक में समझ आने लगे तभी से उसे साधारण ज्ञान देना चाहिए। यह ज्ञान अक्षरज्ञान के पहले शुरु होना चाहिए।

६. अक्षरज्ञान को लेखनकला का विभाग मानकर पहले बालक को रेखागणित की आकृतियाँ बनाना सिखाना चाहिए और जब उँगलियों को रब्त होजाय तब उसे अक्षर लिखना बताना चाहिए अर्थात् उसे पहले से ही शुद्ध अक्षर लिखना सिखाना चाहिए।

७. लिखने के पहले पढ़ना सिखाना चाहिए अर्थात् बालक अक्षरों को चित्र समझकर पहले उन्हें पहचाने और फिर चित्र बनावे।

८. इस प्रकार जो बालक शिक्षक से जबानी ज्ञान प्राप्त करता है, आठ वर्ष के अन्दर वह उसकी शक्ति से बहुत अधिक ज्ञान पा चुकेगा।

९. बालक को जबरदस्ती कुछ न सिखाना चाहिए।

१०. अपने सीखने के विषय में बालक को लुत्फ़ पैदा कर

देना चाहिए।

११. बालक को शिक्षण खेल की तरह मालूम होना चाहिए। खेल भी शिक्षा का आवश्यक विभाग है।

१२. बालकों की सारी शिक्षा मातृभाषा द्वारा ही होनी चाहिए।

१३. बालकों को हिन्दी-उर्दू का ज्ञान राष्ट्र-भाषा के तौर पर कराना चाहिए। अक्षर-ज्ञान के पहले उसका आरम्भ होना चाहिए।

१४. धार्मिक शिक्षा आवश्यक समझनी चाहिए। वह पुस्तक के द्वारा, नहीं बल्कि शिक्षक के आचरण से और उसके मुख से बालक प्राप्त करे।

दूसरा काल

१५. नौ से सोलह वर्ष तक दूसरा काल समझना चाहिए।

१६. दूसरे काल में भी अन्ततक बालक-बालिकाओं की शिक्षा एकसाथ हो तो अच्छा।

१७. दूसरे काल में हिन्दू बालक को संस्कृत और मुसलमान को अरबी पढ़ानी चाहिए।

१८. इस काल में भी शारीरिक काम तो चलता ही रहेगा। अक्षर-ज्ञान का समय आवश्यकतानुसार बढ़ा देना चाहिए।

१९. यदि बालक के माँ-बाप का कोई निश्चित धन्धा हो तो इस काल में बच्चे को उस धन्धे की शिक्षा देनी चाहिए और उसे इस तरह तैयार करना चाहिए जिससे वह पैतृक धन्धे द्वारा अपनी गुजर करना पसन्द करे। यह नियम लड़की पर लागू नहीं होता।

२०. सोलह वर्ष की उम्र तक बालक-बालिका को दुनिया के

इतिहास-भूगोल का और वनस्पति-शास्त्र, खगोल, गणित, भूमिति, बीजगणित का सामान्य ज्ञान होजाना चाहिए।

२१. सोलह वर्ष के बालक-बालिका को सीना और रसोई बनाना जान लेना चाहिए।

तीसरा काल

२२. सोलह से पचीस साल तक का तीसरा काल समझना चाहिए। इस काल में प्रत्येक युवक या युवती को उसकी इच्छा और परिस्थिति के अनुसार शिक्षा मिलनी चाहिए।

२३. नौ वर्ष के बाद शुरू होनेवाली शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए। अर्थात् विद्यार्थी को ऐसे उद्योग भी सिखाये जायँ जिनकी आमदनी से पाठशाला का खर्च निकल आवे।

२४. पाठशाला में आमदनी तो शुरू से ही होने लगेगी परन्तु पहले साल में सारा खर्च न निकल सकेगा।

२५. शिक्षकों का वेतन अधिक नहीं हो सकता, बल्कि उन्हें गुजारे-भर मिलेगा। उनमें सेवा-भाव होना चाहिए। प्राथमिक शिक्षा हर किसी शिक्षक से चला लेने का रिवाज बुरा है। शिक्षक सभी चरित्रवान् होने चाहिएँ।

२६. शिक्षकों के लिए बड़े और खर्चीले मकानों की जरूरत नहीं है।

२७. अँग्रेजी की पढ़ाई एक भाषा के तौर पर ही हो सकती है और उसे शिक्षाक्रम में स्थान होना चाहिए। हिन्दी जैसे राष्ट्र-भाषा है, उसी तरह अँग्रेजी का उपयोग परराष्ट्रों के साथ व्यवहार तथा व्यापार के लिए आवश्यक है।

स्त्री-शिक्षा

२८. स्त्रियों की खास शिक्षा क्या और कब से शुरू होना चाहिए, इसके विषय में, हालाँकि मैंने सोचा और लिखा भी है, फिर भी, मेरे विचार निश्चयात्मक नहीं हो पाये हैं। यह मत निश्चित है कि जितनी सुविधा पुरुष को मिलती है उतनी ही स्त्री को भी मिलनी चाहिए और जहाँ खास सुविधा की जरूरत हो वहाँ वह भी मिलनी चाहिए।

प्रौढ़-शिक्षा

२९. अधेड़ स्त्री-पुरुष जो निरक्षर हों उनके लिए पढ़ाई की जरूरत तो है ही, परन्तु अक्षर ज्ञान होना आवश्यक है, ऐसा मेरा मत नहीं है। उनके लिए व्याख्यान आदि के द्वारा सामान्य ज्ञान मिलने का प्रबन्ध होना चाहिए और जो अक्षर ज्ञान चाहते हों उन्हें उसकी पूरी सुविधा कर देनी चाहिए।

खण्ड १२ :: साहित्य और कला

: १ :

साधारण टीका

१. साहित्य और कला को सत्य, हितकारिता और उपयोगिता की कसौटी पर अवश्य पूरा उतरना चाहिए।

२. सत्य का व्यवहार यहाँ व्यापक अर्थ में हुआ है। तफ़सील अथवा हक़ीक़त की सत्यता से मतलब यहाँ नहीं है, बल्कि सिद्धान्त अथवा आदर्श की सत्यता से अभिप्राय है। उदाहरणार्थ—हरिश्चन्द्र या राम की कथा सम्भव हो या काल्पनिक हो; परन्तु उनमें जो सिद्धान्त और आदर्श ग्रथित किये गये हैं वे सत्य, हितकर और उपयोगी हैं—इससे इन कथाओं का साहित्य इस कसौटी पर पूरा उतरता है।

३. हक़ीक़त और वर्णन बिलकुल सत्य हों और ज्यों-का-त्यों चित्र हमारी आँखों के सामने खड़ा कर देते हों, पर इससे यह नहीं कह सकते कि यह उचित प्रकार का साहित्य या कला है। बहुत-सी हक़ीक़तें सत्य होने पर भी अहितकर और निरुपयोगी

अथवा हानिकर होती हैं। जो साहित्य और कला उन्हें उपस्थित करते हैं, वे हानिकर ही हैं—उदाहरणार्थ वेश्या के भवन का चित्र।

४. बहुत बार सत्य, नीति, धर्म इत्यादि की अन्तिम विजय बताते हुए भी उसके पहले असत्य, अनीति, अधर्म आदि का ऐसा चित्र खींचा जाता है कि जिसमें लोगों की अधम वृत्तियाँ ही उत्तेजित होती हैं। ऐसे साहित्य और कला को भी गन्दा ही समझना चाहिए।

: २ :

साहित्य की शैली

१. कितना ही साहित्य होता तो उत्कृष्ट है, परन्तु उसे सिर्फ वे ही लोग समझ सकते हैं जो या तो विद्वान हैं या जो परम्परा से अवगत हैं। परन्तु आमतौर पर इसे साहित्य का गुण नहीं, त्रुटि ही समझनी चाहिए। खास कारण न हो तो, साहित्य के उत्कृष्ट होते हुए भी, ऐसी भाषा और शैली साहित्यकार को ग्रहण करना चाहिए जिसे सर्व-साधारण समझ सकें।

२. इसमें अपवाद हो सकते हैं, जिनके कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं—

(अ) भाषा के सरल और सुबोध होने पर भी विषय नवीन, असाधारण, कठिन और गहन विचार-युक्त हो तो सम्भव है कि ऐसे साहित्य को जन-साधारण दूसरे की सहायता के बिना न समझ सकें। जैसे—गीता। भाषा की दृष्टि से उसकी शैली इतनी सरल है कि साधारण संस्कृतज्ञ भी उसे समझ

सकता है, फिर भी लोग संस्कृत जानते हुए भी उसका तात्पर्य ग्रहण नहीं कर सकते और विद्वानों की टीकाओं का आश्रय उन्हें लेना पड़ता है; क्योंकि उसका विषय कठिन और विचार गहन है—केवल भाषा-ज्ञान से वह समझ में नहीं आ सकता।

(आ) यही बात शास्त्रीय—वैज्ञानिक ग्रन्थों पर भी घटित होती है। उनमें पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग बहुतायत से होता है जिससे आम लोग उन्हें नहीं समझ सकते। ऐसी दशा में उन ग्रन्थों को दोष नहीं दिया जा सकता—जैसे तर्कशास्त्र, क़ानून या वैद्यक-सम्बन्धी पुस्तकें।

(इ) मनोरंजन के लिए बनाई पहेलियों, समस्याओं, गूढ़ोक्तियों, गूढ़ काव्यों, कबीर जैसों की उलटी बानियों का अर्थ बहुतांश में परम्परा से ही जाना जा सकता है। ऐसा साहित्य यदि अल्पमात्रा में और ज्ञानदायी तथा निर्दोष हो तो कोई उसका विरोध न करेगा।

३. प्रथम दो प्रकार के अपवादभूत साहित्य का जितना अंश जन-साधारण के लिए आवश्यक और उपयोगी हो उतना सरल और सुबोध-भाषा में उपस्थित करना यह भी उन विषयों के पण्डितों का कर्त्तव्य है।

: ३ :

अनुवाद

१. दूसरी भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य का परिचय अपनी भाषा के लोगों को कराना भी साहित्य का एक उपयोगी अंग है।

२. अच्छे अनुवाद में नीचे लिखे गुण होने चाहिएँ—

(अ) भाषा ऐसी सरल, सुबोध और बामुहाविरा होनी चाहिए, मानों वह स्वभाषा में ही विचारा और लिखा गया हो। वह ऐसा न होना चाहिए कि जिससे मूलभाषा के विशिष्ट शब्दों—मुहावरों—का विशिष्ट अर्थ न समझने वाले उसे समझ ही न सकें।

(आ) ऐसे शब्द-विशेष या मुहावरों का प्रयोग यदि अनुवाद में करना ही पड़े, अथवा पर्यायवाची शब्द गढ़कर रखना पड़े, या अपरिचित दृष्टान्तों, रूपकों, दन्त-कथाओं का उल्लेख करना पड़े तो टिप्पणी में उनका स्पष्टीकरण कर देना चाहिए।

(इ) वह कृति ऐसी मालूम होना चाहिए मानों अनुवादक ने मूल पुस्तक को हज़म करके फिर स्वभाषा में उसे रचा हो।

(ई) मूल पुस्तक जिन खूबियों के कारण प्रसिद्ध हुई हो और उत्कृष्ट मानी गई हो वे यदि अनुवाद में न आसकें तो उसे साधारण श्रेणी का ही कहना होगा।

(उ) आमतौर पर वह इतना प्रामाणिक होना चाहिए कि मूल पुस्तक के एवज़ में उसका प्रमाण दिया जासके।

३. इस कारण स्वतन्त्र पुस्तक लिखने की अपेक्षा अनुवाद का काम हमेशा सरल नहीं होता। जो पुरुष मूल लेखक के साथ पूरा-पूरा समभाव न रख सके, एक-रस न होसके और उसके मनोगत को न ग्रहण कर सके उसे उसका अनुवाद न करना चाहिए।

४. अनुवाद में तरह-तरह का भेद और विवेक रखने की

आवश्यकता है—कितनी ही पुस्तकों का अक्षरशः अनुवाद करना आवश्यक हो सकता है, कितनी का सार-मात्र दे देना ही होता है। कितनी का भाषान्तर, वेशान्तर के रूप में देना उचित होता है। कितनी ही पुस्तकें होती तो उत्कृष्ट हैं; परन्तु हमारा समाज उससे इतना विभिन्न होता है कि अनुवाद के रूप में उसे देने की आवश्यकता ही नहीं होती। कुछ पुस्तकें ऐसी होती हैं कि जिनका अक्षरशः अनुवाद भी आवश्यक होता है और सारांश भी।

: ४ :

अख़बार

१. अख़बार, मासिक-पत्र आदि भी साहित्य-कार्य के अंग हैं। जन-साधारण को शिक्षित बनाने के ये ज़बरदस्त साधन हैं।

२. परन्तु इन साधनों का बहुत दुरुपयोग किया जाता है। लोगों को सच्ची खबरें, सच्ची जानकारी और सच्ची सलाह देने के बदले, जान-बूझ कर झूठी, आधी झूठी, आधी सच्ची, अधूरी अथवा सच्ची जानकारी को ग़लत दृष्टि-बिन्दु से लोगों के सामने पेश करके लोगों को ग़लत रास्ते ले जाने का काम समाचार-पत्रों द्वारा पद्धति-पूर्वक किया जाता है।

३. विज्ञापनों के द्वारा द्रव्य प्राप्त करने के लोभ में वे अनेक प्रकार की झूठ और अनीति फैलाने के साधन बने हैं।

४. जिस व्यक्ति को पढ़ने का शौक़ हो और फ़ुरसत भी हो परन्तु जल्दी वक्त गुज़ारने के लिए कोई संगी-साथी मौजूद न हो और जी ऊब उठता हो तो, इस तरह बहलाने देने में बुराई

नहीं है। कुछ देर जी ऊबने के बाद फिर वह किसी-न-किसी काम को खोज लेगा और उसमें लग जायगा। परन्तु वह यदि ऐसा पत्र, मासिक या उपन्यास लेकर बैठेगा जो महज़ फ़ुरसत का वक्त गुज़ारने के लिए ही प्रकाशित किया जाता है तो, उससे मनोरञ्जन का तो सिर्फ़ आभास ही मिलेगा, परन्तु अधिक समय आलस्य में ही बीतेगा और अधिकांश में अपने मन को हीनभावनाओं से विचलित कर लेगा, एवं कुसंस्कारों को पुष्ट करेगा। पत्रों, मासिकों और उपन्यासों से अनेक युवक-युवतियाँ विकार-युक्त अवस्था में पड़े और कुमार्गों में प्रवृत्त हुए पाये गये हैं। ऐसे प्रकाशन जला देने के ही योग्य हैं।

५. पत्र के या लेखन के व्यवसाय में सिर्फ़ उसी मनुष्य को पड़ना चाहिए जिसे यह निश्चय होगया हो कि उसे अपना अथवा दूसरे से प्राप्त, कोई सच्चा, हितकर और उपयोगी सन्देश जनता को देना है। उसे चाहिए कि वह दृढ़ता से सत्य पर आरूढ़ रहे, उसे ऐसी सत्य बातों और शिकायतों को भी प्रकाशित करना चाहिए जो उसके ख़िलाफ़ जाती हों और अपनी भूलों को शुद्ध और सरल भाव से स्वीकार कर लेना चाहिए। उसे विज्ञापन की आमदनी के द्वारा ख़र्च निकालने का लोभ न रखना चाहिए, बल्कि अपनी उपयोगिता ही सिद्ध करके लोक-प्रियता के बलपर ऐसी स्थिति उत्पन्न करना चाहिए कि ख़र्च निकल सके। इसके लिए वह पत्र ऐसा होना चाहिए जो केवल मुट्ठी-भर लोगों की ही आवश्यकताओं का नहीं, बल्कि समस्त जनता की ज़रूरतों और विषयों की चर्चा करता हो।

: ५ :

कला

१. प्राकृतिक सौन्दर्य के सामने मानव-निर्मित सब कलाओं का सौन्दर्य नगण्य है। आकाश और पृथ्वी का सौन्दर्य कला-रसिक के आनन्द के लिए काफी है। जो मनुष्य उस कला का तो स्वाद नहीं ले सकता, परन्तु मनुष्य-निर्मित कला का शौक़ीन समझा जाता हो तो, समझना चाहिए कि वह मोहक दृश्यों को ही कला समझता होगा, वास्तविक कला का ज्ञान ही उसे नहीं है।

२. वास्तविक कला, अच्छे साहित्य की तरह, विचारों को उपस्थित करने का साधन है और साहित्य की शैली के सम्बन्ध में जो विचार पहले प्रदर्शित किये गये हैं वे सम्यक् रूप से कला पर भी चरितार्थ होते हैं।

३. यह कहना कि कला का नीति, हितकरता और उपयोगिता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, सिर्फ सौन्दर्य के ही साथ सम्बन्ध है, कला को न समझने के बराबर है। सत्य ही उच्च-से-उच्च कला और श्रेष्ठ सौन्दर्य है और वह नीति, हितकरता एवं उपयोगिता से रहित नहीं हो सकता।

४. इस कारण कला मनुष्य-जीवन की उपयोगी साधन-सामग्रियों में दिखाई देनी चाहिए; और कला के कारण वे पदार्थ न केवल सुन्दर मालूम होने चाहिएँ, बल्कि ऐसे होने चाहिएँ जो अधिक अच्छी तरह से काम भी दे सकें।

५. जिस कला के लिए प्राणियों पर जुल्म और हिंसा की

जाती हो, उन्हें अति कष्ट उठाना पड़ता हो, उनमें बाह्य सौन्दर्य चाहे कितना ही हो, वह वास्तव में कलि अथवा शैतान का ही दूसरा नाम है।

६. जो कला मनुष्य की हीन वृत्तियों को जगाती है और भोगों की इच्छा को बढ़ाती है उस कला को गन्दे साहित्य की तरह समझना चाहिए।

खण्ड १२ :: लोक-सेवक

: १ :

लोक-सेवक के सामान्य लक्षण

१. लोक-सेवक उसे कहते हैं जिसने जन-सेवा को ही अपने हृदय की मुख्य अभिलाषा बना ली हो। वह लोकसेवक नहीं है जो महज़ अपना पेट पालने के उद्देश्य से जन-सेवा में जुटा हो।

२. वह अपना सारा समय जन-सेवा के लिए दे देता है। इसलिए यदि वह अपने निर्वाह के लिए उसी उद्देश्य से स्थापित संस्था से कुछ द्रव्य ले तो, इसमें कोई दोष नहीं है। और सुचारु रूप से ऐसे कार्यों को चलाने के लिए ऐसे लोक-सेवकों की आवश्यकता तो रहती ही है।

३. परन्तु लोक-सेवक के निर्वाह की नीति दूसरे सेवकों की अपेक्षा भिन्न होती है। वह अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के तो उद्देश्य से सेवा-कार्य में पड़ा नहीं है। इसलिए वह अपने वेतन में वृद्धि की आशा न रक्खेगा। वह इस बात की पूरी चिन्ता रक्खेगा कि उसपर दूसरे के निर्वाह की जिम्मेदारी बढ़े नहीं। उससे कुछ

प्रत्यक्ष अथवा भावी आशाओं के त्याग की अपेक्षा भी रक्खी जा सकती है। कुछ बचा रखने की नीयत से वह वेतन तय न करे; बल्कि ऐसी श्रद्धा रक्खे कि समय पड़ने पर ईश्वर उसे अवश्य पूरा कर देगा।

४. जो लोक-सेवक इस बात का स्मरण या अभिमान रखता हो कि मैंने कुछ त्याग किया है अथवा मैं लोक-सेवक या आजीवन सेवक बना हूँ, वह लोक-सेवक होते हुए भी अपनी पामरता प्रकट करता है।

५. लोक-सेवक नम्रता की हद कर देता है—'शून्य' बनकर रहता है। वह उन सेवकों से, जो वेतनभोगी हैं, अथवा दूसरे व्यवसाय करने के बाद फ़ुरसत में सेवा-कार्य करते हैं, अपने को श्रेष्ठ न माने और उनपर तरजीह पाने का यत्न न करे।

६. लोक-सेवक को अपनी किसी स्वार्थमय—जैसे यश, अधिकार, इत्यादि की महेच्छा की पूर्ति के लिए जन-सेवा के कार्य में न पड़ना चाहिए; बल्कि इसी इच्छा से पड़ना चाहिए कि मेरे देश-बन्धुओं को अधिक सुखकर मार्ग में प्रवृत्त कराने में निमित्त-भागी बनूँ।

७. इसलिए लोक-सेवक अपनी नम्रता और मिठास से लोगों का और अपने साथियों का मनहरण कर लेता है; अपने कार्य-प्रदेश में जो-कुछ सफलता मिली हो उसका यश अपने साथियों को देता है एवं अपने सेवा-बल के द्वारा ही उनका प्रेम और आदर-पात्र बनता है।

८. निःस्वार्थ, नम्र, प्रामाणिक और चरित्रवान् लोक-सेवक

लोक-प्रिय न हुआ हो, ऐसा अनुभव नहीं। इसके विपरीत अनुभव ऐसा है कि जिसके प्रति लोगों के दिलों में विश्वास बैठ गया हो वह लोक-सेवक अपने कार्य-प्रदेश में लगभग सर्वाधिकारी बन जाता है। लोग उसका कहा मानते हैं। वह न तो किसी का अनादर-पात्र होता है, न इर्ष्या-पात्र और न किसी को असुविधा-जनक या कष्टदायी प्रतीत होता है।

६. जिसको बार-बार यह प्रतीत होता हो कि जनता अथवा दूसरे साथी अथवा नेता लोग या स्वयं-सेवक-मंडल से बाहर के कार्यकर्त्ता कृतघ्न हैं, कार्य में विघ्न-रूप हैं तो निश्चय-पूर्वक समझना चाहिए कि उस लोक-सेवक में ही कोई खराबी है; क्योंकि लोग आमतौर पर कृतज्ञ ही नहीं, बल्कि लोक-सेवक की क़द्र करने में बहुत उदार होते हैं। यह अनुभव-सिद्ध है।

१०. जन-सेवक में नीचे लिखे गुण होने चाहिएँ :

(अ) वह धार्मिक-वृत्ति होना चाहिए। अर्थात् उसे सत्कर्म, सद्‌वाणी और सदाचरण में पूर्ण निष्ठा होनी चाहिए। इसके लिए उसमें लगन, भूल होने की अवस्था में पश्चात्ताप, और ऐसी दृढ़ श्रद्धा कि इसीमें उसका और प्रजा का श्रेय है, होना चाहिए।

(आ) उसका चरित्र इतना विशुद्ध होना चाहिए कि स्त्रियाँ उसके पास निःशंक होकर जा सकें और लोगों को भी स्त्रियों को उसके पास जाने देने में संकोच न हो।

(इ) उसका आर्थिक व्यवहार बिल्कुल शुद्ध होना चाहिए। कितने ही लोग बड़ी-बड़ी रक़मों में तो प्रामाणिक होते हैं, परन्तु

'दमड़ी के चोर' होते हैं। कितने लोग पाई का हिसाब तो सही दे देते हैं; परन्तु बड़ी रक़मों में गोलमाल कर देते हैं। लोक-सेवक दोनों आक्षेपों से परे होना चाहिए और अपने को मिली एक-एक पाई का उसे ठीक-ठीक हिसाब रखना चाहिए।

(इ) उसे हमेशा उद्योगी—कार्यलीन रहना चाहिए। जो लोक-सेवक गपशप में, फ़ालतू बातों में, निन्दा-स्तुति में अपना समय बिताता हो वह कभी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी कार्यलीनता लोगों के लिए उदाहरण-स्वरूप होनी चाहिए।

(उ) समय-पालन की आदत उसे अवश्य होनी चाहिए। जिस कार्य के लिए जो समय निश्चित किया हो उसमें ग़फ़लत या भूल न होनी चाहिए।

(ऊ) इसका अर्थ यह हुआ कि उसे सदैव नियम-पालन करना चाहिए। सुबह से शाम तक उसकी क्रिया, घड़ी की तरह, यथाक्रम चलनी चाहिए।

(ए) फिर अपनी संस्था के सिद्धान्तों और नियमों का पालन उसे लगन के साथ करना चाहिए और जिनके मातहत हो उनकी आज्ञा का ठीक-ठीक पालन करना चाहिए। जो आज्ञा-पालन करना नहीं जानता वह कभी आज्ञा देने की योग्यता नहीं प्राप्त कर सकता।

(ऐ) लोक-सेवक को अपने शरीर और घर-बार की चिन्ता ईश्वर पर छोड़कर निःशंक रहना चाहिए। लोक-सेवा के लिए अपने धन, प्राण, कुटुम्ब, सुख-सुविधा, स्वतन्त्रता इत्यादि का त्याग करने की पहली ज़िम्मेदारी उसे अपने सिर ले लेना चाहिए

और जब भी जरूरत आ पड़े, भारी जोखिम उठाकर भी, लोक-हित के कार्य में पड़ना चाहिए।

(ओ) लोक-सेवक खुद तो बहुत सफाई-पसंद हो और साफ़-सुथरा रहता हो; परन्तु अस्वच्छ लोगों से मिलने-जुलने में और उनकी अस्वच्छता को हटाने के कार्य में उसे नफ़रत न आनी चाहिए।

(औ) लोक-सेवक को अपनी दिन-चर्या (डायरी) लिखने की आदत होनी चाहिए। और उसमें अपने दैनिक कर्मों का यथावत उल्लेख करना चाहिए ।

(अं) ईश्वर-स्मरण से दिन का आरंभ करके, रात को सारे दिन के कार्य का सिंहावलोकन तथा उसपर मनन करके, फिर ईश्वर-स्मरण-पूर्वक सो जाना चाहिए—ऐसा स्वयंसेवक लोक-सेवा करते-करते श्रेय को ही प्राप्त होगा।

(अः) ऐसा सेवक यदि विचार करेगा तो इस नतीजे पर पहुँच जायगा कि उसे ब्रह्मचर्य धारण करके ही रहना चाहिए। और जबसे उसे इस विषय में निश्चय हो जाय तभी से वह इस दिशा में प्रयत्नशील रहेगा ।

: २ :

ग्राम-सेवक के कर्त्तव्य

१. ग्राम-सेवक का पहला धर्म है ग्राम-वासियों को सफाई की तालीम देना। इस तालीम में व्याख्यान और पत्रिकाओं का स्थान बहुत कम है—अर्थात् यह पदार्थ-पाठ के ही द्वारा दी जा सकती

है। इतना करते हुए भी धीरज की आवश्यकता रहेगी ही। यह न समझ लेना चाहिए कि ग्राम-सेवक के एक-दो दिन करके दिखा देने से लोग अपने-आप करने लग जायँगे।

२. ग्राम-सेवक को चाहिए कि वह ग्रामवासियों को एकत्र करके पहले उन्हें स्वच्छता के सम्बन्ध में उनका धर्म समझावे। फिर गाँव में से ही कुदाली, फावड़ा, डलिया या डोल-बाल्टी और झाड़ू आदि चीजें प्राप्त करके खुद सफ़ाई का काम शुरू कर दे।

३. रास्तों को देख-भाल कर पहले मल को फावड़े से टोकरी में भर ले और मल की जगह मिट्टी डाल दे। जहाँ-कहीं पेशाब किया हुआ हो वहाँ से भी भीगी मिट्टी फावड़े से टोकरी में डाल ले और उसपर आसपास से साफ़ धूल लेकर डाल दे।

४. मैला किसान के लिए सुवर्ण का काम देता है। खेत में डालने से उसका बढ़िया खाद बनता है और फ़सल खूब पकती है। इसलिए किसानों को यह बात समझाकर किसी के खेत में मैले को कोई ६ इंच गहरा गाड़ दे—इससे अधिक गहरा न होना चाहिए। मैले पर मिट्टी खूब डाल देनी चाहिए।

५. मैले की सफ़ाई के बाद कूड़े-करकट की सफ़ाई को हाथ में लेना चाहिए। कूड़ा-कचरा दो तरह का होता है—(१) खाद के लायक़—जैसे गोबर, मूत्र, साग-तरकारी के छिलके, जूठन, आदि और (२) लकड़ी के टुकड़े, छिलके, पत्थर, टीन और लोहे के टुकड़े, कपड़ों के चिथड़े, आदि।

६. जो कूड़ा खाद के योग्य हो उसे अलहदा एकत्र करके मैले की तरह परन्तु अलहदा गढ्ढे में गाड़ना चाहिए और घूरे की

जगह डाल देना चाहिए।

७. दूसरी तरह का कूड़ा-करकट ऐसे बड़े गढ्ढों में डालना चाहिए जो अच्छी तरह पूरे जा सकें। और जब गड्ढे भर जायँ तब मिट्टी डालकर गड्ढे को सपाट कर देना चाहिए। इस कचरे में से लकड़ी के छिलके, दतौन के टूकड़ों को धो और सुखाकर ईंधन के काम में ले सकते हैं और चिथड़े बेचे जा सकते हैं।

८. घूरों की जगह सस्ते पाखाने बनाने का जिक्र पहले (आरोग्य-खण्ड में) किया ही गया है। जहाँ ऐसी व्यवस्था न हो वहाँ ग्राम-सेवक को तबतक, रास्ते की तरह ही, घूरों को भी साफ करना चाहिए जबतक इस तरह जमा हुए मैले की व्यवस्था करना किसान न सीख लें।

९. ग्राम-सेवक का यह भी काम है कि वह रास्तों को पक्का और अच्छा बनाने के लिए तजवीजें करें। स्थानिक परिस्थिति के अनुसार ये उपाय जुदे-जुदे हो सकते हैं। गाँव के बड़े-बूढ़ों से शायद इसमें सलाह मिल सकती है।

१०. सफाई के काम से निवृत्त होने पर ग्राम-सेवक आवश्यक औजारों और साधनों को लेकर गाँव के चरखे, लोढ़ने, पींजन आदि की जाँच के लिए निकले। जहाँ मरम्मत की जरूरत मालूम हो वहाँ इन कामों को करदे और करना सिखा भी दे। नये शिक्षार्थियों के काम की जाँच करके उन्हें आवश्यक सूचनायें दे। नये उम्मीदवारों के लिए अलहदा समय निकाल कर उन्हें दिखावे। जिस समय गाँव के लोग इनको करते हों उसी समय जाँच के लिए निकलना चाहिए।

११. सूत तथा बुनाई का प्रबन्ध यदि ग्राम-सेवक के द्वारा होता हो तो उसके लिए एक समय निश्चित कर लेना चाहिए और लोगों को उसी समय आने की आदत डलवाना चाहिए। उसी समय सूत और बुनाई की जाँच करके उनमें आवश्यक सुधार सुझाने चाहिए।

१२. ग्राम-सेवक को चाहिए कि वह दिन में कम-से-कम एक-बार ऐसे समय जो ग्राम-वासियों के अनुकूल हो, उन्हें एकत्र करके सामुहिक-प्रार्थना करे। वह ऐसी भाषा में होनी चाहिए जिसे सब लोग समझ सकें। ग्राम-सेवक को संगीत का ठीक ज्ञान होना वाञ्छनीय है। यदि वह न जानता हो तो गाँव के ही किसी जानकार से भजन, या रामनाम आदि की धुन गवाना चाहिए—और दूसरों को भी उसमें शामिल करना चाहिए। बहुतेरे गाँवों में तो भजन-मण्डलियाँ या भजनानन्दी अक्सर रहते ही हैं। उन्हें नये और अच्छे भजन सिखाकर प्रार्थना में उनका उपयोग करना चाहिए।

१३. प्रार्थना के बाद लोगों को अखबारों से उपयोगी बातें, अच्छे लेख, पुस्तकें, धार्मिक ग्रन्थ या कथा पढ़ या कहकर सुनाना चाहिए।

१४. ग्राम-सेवक को नीचे लिखी बातों पर खास तौर से ध्यान देना चाहिए—

(अ) गाँव में यदि पक्ष और दल हों तो वह अपने-को उनसे बचावे। किसी भी पक्ष या दल में अपने को शरीक न करे—तटस्थ रहे और सबकी सम-भाव से सेवा करे, सबसे समान स्नेह-

सम्बन्ध रखे और अपने प्रभाव से यदि हो सके तो इस फूट को मिटाने का यत्न करे।

(आ) मिष्टान्न आदि के भोजन के निमन्त्रण आवें तो आमतौर पर उन्हें नामंजूर करदे। ग्रामवासी ग्राम-सेवकों के प्रति अपना स्नेह और ममत्व प्रदर्शित करने के लिए समय-समय पर उन्हें निमन्त्रण देते हैं और ग्राम-सेवक उनके मुलाहज़े से उन्हें मंजूर करने लगता है; परन्तु इससे कितने ही ग्राम-सेवक स्वादलोलुप हो जाते हैं और फिर ऐसे घरों और अवसरों की खोज में रहते हैं एवं आगे चलकर खुद ही निमन्त्रण चाहने में भी नहीं हिचकते। ग्राम-सेवक को याद रखना चाहिए कि ऐसा खर्च वे ग्रामवासी भी, जो अच्छी हालत में समझे जाते हैं, अपनी शक्ति के बाहर ही उठाते हैं और अतिथि-खर्च ग्रामवासियों पर इतना अधिक होता है कि ग्रामवासियों में मिहमानों के लिए सादा भोजन का रिवाज डालना ज़रूरी है। इस कारण ग्राम-सेवक को चाहिए वह मिष्टान्न के निमन्त्रणों को न स्वीकार करे, और यदि कहीं स्वीकार करना ही पड़े तो कम-से-कम मिष्टान्न का त्याग अवश्य करदे—भले ही ग्राम-सेवक आमतौर पर मिष्टान्न खा लेता हो तो भी वहाँ तो उसे सादा भोजन ही ग्रहण करना चाहिए।

(इ) ग्राम-सेवक को अपने खाने-पीने की आदतें बहुत सादी रखनी चाहिए जिससे बहुत ग़रीब घर को भी उसकी सुविधा के लिए दौड़-धूप न करना पड़े, या खास तैयारी न करनी पड़े।

(ई) ग्राम-सेवक को संयमपूर्ण और तप-व्रत-मय जीवन बिताना

चाहिए; परन्तु ग्राम-सेवेच्छु को ऐसा व्रत देहात की हालत का ख़याल करके लेना चाहिए—अन्यथा वे स्वच्छन्दता-रूप बन-कर ग्रामवासियों के लिए दुविधाजनक हो जायँगे। उदाहरणार्थ—कोई ग्राम-सेवक शकर छोड़कर, शहद माँगे, अथवा चाय छोड़कर काफ़ी या देशी मसालों की काफ़ी चाहे, तो ये व्रत पूर्वोक्त दोषों के पात्र हो जायँगे।

खण्ड १४ :: संस्थायें

: १ :

संस्था की सफलता

१. किसी भी संस्था की सफलता नीचे लिखी शर्तों पर अव-लम्बित रहती है—

(अ) संस्था के उद्देश्य के प्रति अत्यन्त वफ़ादारी और निष्ठा और उसकी सिद्धि की तीव्र लगन।

(आ) संस्था के नियमों का स्थूल रूप में ही नहीं भाव, रूप में भी पालन।

(इ) संस्था के सञ्चालक, सभ्य, सेवक, आदि कार्य-कर्ताओं में भ्रातृभाव और एक-राग।

२. इन तीन में से यदि एक भी शर्त का पालन न होता हो तो, और अनुकूलतायें रहते हुए भी, वह संस्था तेजस्वी न रह सकेगी और स्फूर्तिदायी काम न कर सकेगी।

: २ :

संस्था का संचालक

१. संस्था का सञ्चालक ही संस्था का प्राण है—ऐसा कह सकते हैं।

२. उसकी उद्देश्य के प्रति निष्ठा और उत्साह, उसका नियम-पालन, दूसरे सभ्यों के प्रति व्यवहार, उद्योगशीलता—इन सबपर संस्था की सफलता बहुत-कुछ अवलम्बित रहती है।

३. सञ्चालक को अपने अधिकार का गर्व, अथवा संस्था के दूसरे सभ्यों के प्रति अनादर या अरुचि रहती हो तो इससे संस्था को धक्का पहुँचेगा।

४. जिस प्रकार अच्छा सेनापति नियम-पालन कराने में बहुत सख्त होता है; परन्तु फिर भी अपने सिपाहियों का प्रेम-सम्पादन करने की चिन्ता रखता है, और उनके लिए अभिमान रखता है, वैसी ही स्थिति संस्था के सञ्चालक की होनी चाहिए।

५. सञ्चालक की दृष्टि संस्था की छोटी-छोटी बातों पर भी चली जाना चाहिए। उसे माता की तरह उस संस्था में रहनेवाले प्राणियों के सुख-दुःख की चिन्ता रखनी चाहिए।

६. सञ्चालक प्रसंगानुसार अपने अधिकार का उपयोग करे; परन्तु फिर भी अपने मन में अपने मातहत लोगों के साथ समानता का अथवा साथीपन का सम्बन्ध ही माने—छोटे-छोटे आदमी को भी वह अपना मित्र ही समझे। वह यह माने कि मेरा सञ्चालकपन मेरी योग्यता के बदौलत नहीं है, बल्कि साथियों के मेरे

प्रति पक्षपात या आदर के कारण ही है।

७. फलतः वह छोटे-से-छोटे व्यक्ति की भी सूचना को आदर के साथ सुनेगा और वह उचित हो तो उसे स्वीकार करने के लिए तैयार रहेगा, पर यदि अनुचित प्रतीत हो तो, उसका अनौचित्य उसे समझाने का यत्न करेगा।

८. सञ्चालक को कान का कच्चा न होना चाहिए। किसीके विषय में जल्दी प्रतिकूल राय न बनानी चाहिए; बल्कि प्रतिकूल राय बनाने में दीर्घसूत्री ही बने और जबतक स्पष्ट प्रमाण न मिल जाय प्रतिकूल राय न बनावे।

९. अपने अधीन काम करनेवालों में से सञ्चालक किसीको विशेष प्रियपात्र न बनावे; किसी का पक्षपात न करे; और एक की हीनता दिखाने के लिए दूसरे की प्रशंसा न करे।

१०. नियमों का ठीक-ठीक पालन कराने के लिए व्यवहार या वाणी में कठोरता लाने की या सजा देने की जरूरत नहीं। जिस सञ्चालक को इसकी जरूरत मालूम होती है वह अपनी योग्यता की कमी को प्रदर्शित करता है।

: ३ :

संस्था के सभ्य

१. जिस संस्था के सभ्यों में परस्पर भ्रातृभाव और आदर नहीं है वह अधिक समय तक तेजस्वी नहीं रह सकती; उसमें शाखायें और दलबन्दियाँ हो जायँगी; और वे मूल उद्देश्य को भूलकर एक-दूसरे के साथ कलह करने में ही जुट पड़ेंगे।

२. जिस संस्था के सभ्य अपने वरिष्ठों (जिनके अधीन वे काम करते हैं) की आज्ञा पालन करने के लिए हर्ष से तत्पर न रहते हों वह अधिक समय तक तेजस्वी नहीं रह सकती। उसमें आलस्य,और ढीलापन आजायगा और सभ्य प्रमादी हो जायँगे।

३. सञ्चालक और सभ्यों में केवल ऊपरी नहीं, बल्कि मानसिक सहयोग भी होना चाहिए। अर्थात् सभ्यों के लिए इतना ही काफी नहीं है कि वे सञ्चालक की इच्छा या आज्ञा के ही अधीन रहें। परन्तु यदि वे उस इच्छा या आज्ञा के औचित्य को मानते हों तो फिर उनका व्यवहार ऐसा होना चाहिए मानों खुद उन्होंने ही इस काम को करने का निश्चय किया है।

४. यदि नियम या आज्ञा के औचित्य के विषय में सभ्यों को सन्तोष न हो तो उन्हें उचित है कि वे उसके सम्बन्ध में सञ्चालक से दिल खोलकर बातें करलें। और जबतक समाधान न हो जाय तबतक सञ्चालक के मन में ऐसा भास न उत्पन्न होने देना चाहिए कि समाधान हो गया है।

५. यदि ऐसा नियम या आज्ञा सत्य या धर्म के विपरीत न

मालूम हो, सिर्फ व्यावहारिक दृष्टि से ही अनुचित प्रतीत हो तो, उसके औचित्य के बारे में सन्तोष न होने पर भी उसका पालन करना चाहिए और यदि वह सत्य एवं धर्म के विरुद्ध मालूम हो तो संस्था छोड़ने तक के लिए तैयार रहना चाहिए।

६. यदि नियम या आज्ञा सत्य या धर्म के विरुद्ध न हो, परन्तु उनका पालन कठिन मालूम हो तो, सभ्य को, संस्था के उत्कर्ष के लिए, संस्था को छोड़ना ही इष्ट है।

७. सभ्यों में यदि परस्पर मत-भेद हो, किसी के आचरण के विषय में शंका पैदा हो या उससे किसी को असन्तोष या दुःख पहुँचा हो, किसीके आशय के विषय में मन में सन्देह पैदा हुआ हो—तो ऐसे अवसर पर सबसे पहले उस व्यक्ति से ही ख़ुलासा करा लेना चाहिए। यदि उससे सन्तोष न हो और उसके सम्बन्ध में हमारी राय वैसी ही क़ायम रहे, या अधिक दृढ़ हो जाय तो उसकी सूचना उसके या अपने वरिष्ठ को तुरन्त देना चाहिए और उचित कार्रवाई करने का भार उसपर सौंप देना चाहिए।

८. उस व्यक्ति के साथ साफ़ बात-चीत करने का प्रयत्न किये बिना उसके सम्बन्ध में वरिष्ठ से या किसी दूसरे से ज़िक्र करना निकटवर्ती वरिष्ठ को ख़बर किये बिना ठेठ वरिष्ठ अधिकारी तक बात पहुँचाना अनुचित है।

९. अपने मन में किसीके विषय में इस प्रकार कोई बुरा ख़याल बन रहा हो तो, तुरन्त उसका ख़ुलासा कराने के बदले उसे मन में संग्रह करके रख छोड़ना, वरिष्ठ को जताने की आवश्यकता उपस्थित होने पर भी उसे न जताना, संस्था में गंदगी इकट्ठी करना है।

१०. जिस संस्था में सभ्यों के दोषों की अन्दर-ही-अन्दर काना-फूसी होती रहती हो, फिर भी वरिष्ठों तक उसकी खबर न पहुँचती हो, और जिसके सम्बन्ध में बातें होती हों उससे भी खुलासा न कराया जाता हो तो, वह संस्था तेजस्वी नहीं रह सकती। उसमें पाप, दम्भ, असत्य, और झूठी लज्जा प्रवेश करके उसको निष्प्राण बना डालेगी।

: ४ :

संस्था का आर्थिक व्यवहार

१. धन के अभाव में कोई सच्चा काम रुक गया हो—ऐसा देखा और सुना नहीं।

२. पूँजी एकत्र करके उसके ब्याज में से खर्च चलाने की प्रवृत्ति इष्ट नहीं है। संस्था के सञ्चालकों में यह दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए कि जिस संस्था का उपयोग लोगों के लिए है, उसके निर्वाह के लिए धन अवश्य मिलता रहेगा।

३. हाँ, यह सच है कि जबतक उस संस्था की उपयोगिता के विषय में लोगों को विश्वास न होजाय तबतक सञ्चालकों को अधिक मिहनत करनी पड़ेगी; परन्तु वह तो उनकी तपश्चर्या और सेवा का ही भाग कहा जा सकता है।

४. इसके बाद तो इतनी मदद मिलती रहती है कि अनेक संस्थाओं की निष्प्राणता का कारण उनके पास होनेवाला अर्थ-संचय ही होजाता है। इस कारण आदर्श संस्था को धन एकत्र कर रखने के फेर में न पड़ना चाहिए।

५. सार्वजनिक धन पर चलनेवाली संस्थाओं में कमखर्ची की ओर काफी ध्यान नहीं दिया जाता है। यह बड़ा दोष है। जो संस्थायें भारत जैसे ग़रीब देश की सेवा करने के उद्देश्य से बनी हैं उनका काम अत्यन्त कमखर्ची से चलना चाहिए।

६. संस्था में हिसाब-किताब की सफ़ाई पर पूरा और ख़ास ध्यान रखना चाहिए। पाई-पाई का हिसाब महाजनी पद्धति से रखना चाहिए। और प्रमाण-भूत हिसाब परीक्षकों से उसकी जाँच कराते रहना चाहिए।

४५-जीवन-विकास १।), १॥)
४६-किसानों का बिगुल ≈)
४७-फाँसी ! ।≈)
४८-अनासक्तियोग—गीताबोध
दे० (नवजीवनमाला)
४६-स्वर्ण विहान ।≈)
५०-मराठों का उत्थान-पतन २॥)
५१-भाई के पत्र १)
५२-स्वगत ।≈)
५३-युगधर्म १≈)
५४-स्त्री-समस्या १॥।)
५५-वि० कपड़े का मुक़ाबिला ॥≈)
५६-चित्रपट ।≈)
५७-राष्ट्रवाणी ॥≈)
५८-इङ्गलैंड में महात्माजी ।॥)
५६-रोटी का सवाल १)
६०-दैवी सम्पद् ।≈)
६१-जीवन-सूत्र ।॥)
६२-हमारा कलंक ॥≈)
६३-बुद्बुद ॥)
६४-संघर्ष या सहयोग ? १॥)
६५-गांधी-विचार-दोहन ।॥)
६६-एशिया की क्रांति १॥।)
६७-हमारे राष्ट्र-निर्माता १॥)
६८-स्वतंत्रता की ओर— १॥)
६६-आगे बढ़ो ! ॥)
७०-बुद्ध-वाणी ॥≈)
७१-कांग्रेस का इतिहास २॥)
७२-हमारे राष्ट्रपति १)
७३-मेरी कहानी(ज० नेहरू)२॥)
७४-विश्व-इतिहास की झलक
(जवाहरलाल नेहरू) ८)
७५-(दे० नवजीवनमाला)
७६-नया शासन विधान-१ ।॥)
७७-[१] गाँवों की कहानी ॥)
७८-[२-६]महाभारत के पात्र ॥)
७६-सुधार और संगठन १)
८०-[३] संतवाणी ॥)
८१-विनाश या इलाज ।॥)
८२-[४]अंग्रेजी राज्य में
हमारी आर्थिक दशा ॥)
८३-[५] लोक-जीवन ॥)
८४-गीता मंथन १॥)
८५-[६] राजनीति प्रवेशिका ॥)
८६-[७]अधिकार और कर्तव्य॥)
८७-गांधीवाद : समाजवाद ।॥)
८८-स्वदेशी-ग्रामोद्योग ॥)
८६-[८] सुगम-चिकित्सा ॥)

आगे होनेवाले प्रकाशन

१-जीवन शोधन—किशोरलाल मशरूवाला

२-हमारी आजादी की लड़ाई [२ भाग]—(हरिभाऊ उपाध्याय)

३-फेसिस्टवाद

४-नया शासन विधान—(फेडरेशन)

५-ब्रह्मचर्य—(गाँधीजी)

६-समाजवाद : पूँजीवाद—शोभालाल गुप्त

७-सरल विज्ञान—१ (चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय)

८-लोक साहित्य माला—(इसमें भिन्न-भिन्न वषयों पर २०० पुस्तकें निकलेंगी। मूल्य प्रत्येक का ।।) होगा और पृष्ठ संख्या २००-२५० होगी। इसकी ८ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।)

९-गाँधी साहित्य माला—(इसमें गाँधीजी के चुने हुए लेखों का संग्रह होगा—इस माला में २० पुस्तकें निकलेंगी। प्रत्येक का दाम ।।) होगा। पृष्ठ सं० २००-२५०)

१०-टाल्स्टाय ग्रंथावली—(टाल्स्टाय के चुने हुए निबंधों,लेखों और कहानियों का संग्रह। यह १५ भागों में होगा। प्रत्येक का मूल्य ।।), पृष्ठ संख्या २००-२५०)

११-बाल साहित्य माला—(बालोपयोगी पुस्तकें)

१२-नवराष्ट्र माला—इसमें संसार के प्रत्येक स्वतंत्र राष्ट्र-निर्माताओं और राष्ट्रों का परिचय है। इस माला की पुस्तकें २००-२५० पृष्ठों की और सचित्र होंगी। मूल्य ।।।)

१३-नवजीवनमाला—छोटी-छोटी नवजीवन दायी पुस्तकें।

१४-सामयिक साहित्य माला—सामयिक विषयों और घटनाओं पर देश के नेताओं के विचार।